जैनधर्म की कहानियाँ

भाग-१५

प्रकाशक

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

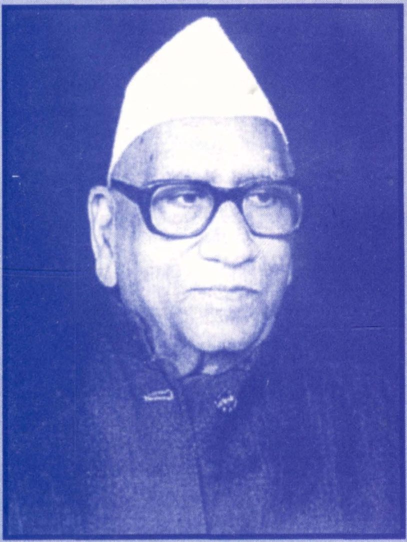

श्री खेमराज गिड़िया

जन्म : 27 दिसम्बर, 1918

देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया

जन्म : 1922

देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)

पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।

सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का 23 वाँ पुष्प

ॐ

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग-15)

(विविध लघु कहानियों एवं प्रेरक प्रसंगों का संग्रह)

संकलन कर्त्ता :

कु. समता जैन, बी.एस.सी., खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – 491 881 (छत्तीसगढ़)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – 364 250 (सौराष्ट्र)

अबतक प्रकाशित -५२००प्रतियाँ
प्रस्तुत आवृत्ति -२,२०० प्रतियाँ
(१ जनवरी, २०१४)

न्यौछावर : दस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा – खैरागढ़**
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन,
  'कहान-निकेतन' खैरागढ़
  पिन - ४९१८८१
  जि. राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़)
- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५
- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़ - ३६४२५०
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

साहित्य प्रकाशन फण्ड

ज्योत्सना बेन, अमेरिका	६०१/-
श्री मुमुक्ष मण्डल, खैरागढ़	५०१/-
सुशीला ब्रेन जयन्ति लाल शाह, नायरोबी	४२५/-
श्री खेमराज प्रेमचंद जैन ह. श्री अभयकुमार शास्त्री, खैरागढ़	३५१/-
कांता बेन हीराचंद मास्टर, सोनगढ़	३०१/-
श्री झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	२५१/-
ब्र. ताराबेन-मैनाबेन, सोनगढ़	२५१/-
श्रीमती मनोरमा विनोद कुमार जैन, जयपुर	२५१/-
श्री दुलीचंद कमलेशकुमार जैन ह.श्री जिनेश जैन, खैरागढ़	२०१/-
स्व. ढेलाबाई ह.शोभादेवी मोतीलालजी जैन, खैरागढ़	२०१/-
रीता बेन भूरा भाई, भिलाई	२०१/-
कुमुद बेन महेश भाई, सूरत	२०१/-
श्रीमती ममता रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ह. साकेत जैन	२०१/-
सौ. कंचनदेवी पन्नालाल ह. श्री मनोज जैन, खैरागढ़	१०१/-
श्री पन्नालाल उमेशकुमार जैन, ह. महेशजी छाजेड़, खैरागढ़	१०१/-

卐 अनुक्रमणिका 卐

कसौटी धर्म की	९
लालच बुरी बलाय	१५
सियार चला सिद्धों...	१९
विवाह मण्डप से वैराग्य	२३
चक्ररत्न भी कुम्हार के..	२९
प्रश्नोत्तरी सभा	३४
बाल सभा	३८
बाल सभा	४०
ज्ञान-वैराग्यवर्द्धक...	४४

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई हैं। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन 26 दिसम्बर, 1980 को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1988 में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य 21001/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य 11001/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य 5001/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. 2506 में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से २० तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स), भक्तामर प्रवचन (गुजराती) – इसप्रकार २८ पुष्पों में लगभग ७ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन का कार्य कर रही हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग १५ के प्रस्तुत संस्करण में श्रीमती समता जैन, कानपुर द्वारा संकलित ५ कहानियाँ १ प्रश्नोत्तरी ३ बालसभाएँ एवं २५ प्रेरक प्रसंगों को प्रकाशित किया जा रहा है। ये समस्त रचनाएँ पुराणों एवं एतिहासिक महापुरुषों के जीवन के आधार से लिखी गईं हैं। इनमें कथाओं के साथ-साथ सिद्धान्तों को भी हार में मोतियों की भाँति जड़ा है। इसका सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अतः हम इन सभी के आभारी हैं।

आशा है इसका स्वाध्याय कर पाठक गण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, पर. संरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन	प्रेमचन्द जैन
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

विनम्र आदराञ्जली

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

जन्म	स्वर्गवास
१/१२/१९७८	२/२/१९९३
(खैरागढ़, म.प्र.)	(दुर्ग पंचकल्याणक)

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभिता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे - ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे --ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**बहन**	सुश्री क्षमा जैन
जीजा-	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन

श्री दुलीचंद बरडिया राजनाँदगाँव

पिता- स्व. फतेलालजी बरडिया

श्रीमती सन्तोषबाई बरडिया

पिता-स्व. सिरेमलजी सिरोहिया

सरल स्वभावी बरडिया दंपत्ति अपने जीवन में वर्षों से सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हैं। सन् १९९३ में आप लोगों ने ८० साधर्मियों को तीर्थयात्रा कराने का पुण्य अर्जित किया है। इस अवसर पर स्वामी वात्सल्य कराकर और जीवराज खमाकर शेष जीवन धर्मसाधना में बिताने का मन बनाया है।

विशेष - पूज्य श्री कानजीस्वामी के दर्शन और सत्संग का लाभ लिया है।

परिवार:

पुत्र

ललित, निर्मल, अनिल एवं सुनील.

पुत्रियाँ

चन्दकला बोथरा, भिलाई एवं शशिकला पालावत, जयपुर

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसी कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो व्स्की ह. शीतल विजेन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जबपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड

शिरोमणि संरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
स्व. धापू देवी ताराचन्द गंगवाल, जयपुर
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
श्री दुलीचंदजी अनिल-सुनील बरड़िया, नांदगांव
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई

परमसंरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई, नेपाल एवं श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
सरिता बेन ह. पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, तेजपुर
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबैन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर

संरक्षक सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
स्व. अमराबाई नांदगांव, ह. श्री घेवरचंद डाकलिया
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्री प्रेमचन्द रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
स्व. श्री जेठाभाई हंसराज, सिकंदराबाद
श्री शांतिनाथ सोनाज, अकलूज
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
श्री लवजी बीजपाल गाला, बम्बई
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
श्रीमती शांताबेन श्री शांतिभाई झवेरी, बम्बई
स्व. मूलीबेन समरथलाल जैन, सोनगढ़
श्रीमती सुशीलाबेन उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्री बिशम्भरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
सौ. सविताबेन रसिकभाई शाह, सोनगढ़
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी उज्जैन,
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी

श्री चिमनलाल ताराचंद कामदार, जैतपुर
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
श्रीमती तेजबाई देवीलाल मेहता, उदयपुर
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
श्री फूलचंद चौधरी, बम्बई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री लक्ष्मीचंद सुन्दरबाई पहाड़िया, कोटा
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
सौ. चिंताबाई मिट्ठूलाल मोदी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, रायपुर
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
सौ. कंचनदेवी जुगराज कासलीवाल, कलकत्ता
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर
स्व. सुशीलाबेन हिम्मतलाल शाह, भावनगर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री सत्संग महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व. गैंदामल - ज्ञानचन्द - सुमतप्रसाद, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. निधि-निश्चल, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्री अभयकुमार शास्त्री, ह. समता-नम्रता, खैरागढ़
स्व. वसंतबेन मनहरलाल कोठारी, बम्बई
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. गुलाबदेवी लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
स्व. लालचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. ओमलता लालचन्द जैन, भुसावल
श्री योगेन्द्रकुमार लालचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री ज्ञानचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. साधना ज्ञानचन्द जैन लुहाड़िया, भुसावल
श्री देवेन्द्रकुमार ज्ञानचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री महेन्द्रकुमार बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. लीना महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री चिन्तनकुमार महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल जैन, खैरागढ़
अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्री प्रशम जीतूभाई मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
श्री पारसमल महेन्द्रकुमार, तेजपुर
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर

कसौटी धर्म की

(दिगम्बर जैनधर्म की दृढ़ श्रद्धावंत श्रेष्ठी कन्या बन्धुश्री की कथा)

इस भरत क्षेत्र के मालव देश में अमरावती के समान सुन्दर उज्जैन नगर है, उसमें विश्वंधर राजा राज्य करते थे, उनके राज्य में एक गुणपाल नामक राजश्रेष्ठी रहता था, जिसके इन्द्राणी के समान सुन्दर धनश्री नाम की स्त्री थी। उनकी लक्ष्मी और सरस्वती के समान गुणवान बंधुश्री नाम की एक पुत्री थी।

एक दिन राजा विश्वंधर जब वन क्रीड़ा के लिये जा रहा था। तब मार्ग में उसने अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करती हुई उस श्रेष्ठी कन्या बंधुश्री को देखा। उस अनिंद्य सुन्दरी को देखते ही राजा कामपीड़ित हो गया। वह विचारने लगा कि इस "देवांगना के समान सुन्दरी के अभाव में मेरा जीवन निरर्थक है" अत: उसने राजभवन आकर एक दूत को बुलाया और उससे कहा कि तू गुणपाल सेठ के घर जा और कह कि "राजा आपकी कन्या बन्धुश्री के साथ विवाह करना चाहते हैं। अतः राजा ने शीघ्र शुभमुहूर्त में विवाह की तैयारी करने का फरमान भेजा है।"

दूत गुणपाल सेठ के घर जाकर कहता है कि "मैं आपको प्रसन्नता के समाचार देने आया हूँ। महाराज विश्वंधर आपकी पुत्री के साथ विवाह करना चाहते हैं। आपका भाग्य जागा है, महाराज जैसा दामाद मिलना – यह तुम्हारे लिए सौभाग्य है। आप महा भाग्यशाली हो, आपकी कन्या के सौभाग्य की तो क्या प्रशंसा करूँ। बंधुश्री तो अब राजा की पटरानी बनेगी।"

गुणपाल सेठ दूत के वचन सुनकर विचारने लगे कि "कन्या सदा दिगम्बर

जैनधर्मी को ही देना चाहिये, विधर्मी को कन्या देना तो महापाप है। राजा जैनधर्मी नहीं, विधर्मी है; इसलिये कुछ भी हो मैं विधर्मी राजा को अपनी कन्या नहीं दूँगा। सांसारिक सुख के लिए धर्म को नहीं बेचा जा सकता। धर्म ही संसार से उद्धार करने वाला है। धर्म ही जीव का साथी है, इसके बिना जीना व्यर्थ है। **जो व्यक्ति सांसारिक प्रयोजन में आकर अपनी कन्या विधर्मी को देता है वह निंद्यनीय है।** आज तक बंधुश्री ने वीतरागी देव की सेवा, पूजा, उपासना, भक्ति आदि ही की है, अब वह विधर्मी के यहाँ जाने से किस प्रकार अपने धर्म की रक्षा कर सकेगी ? क्या क्षणिक भोगों के लिये धर्म नष्ट किया जा सकता है ? नहीं, नहीं; धर्म कदापि नष्ट नहीं किया जा सकता। मैं अपनी कन्या का विवाह जैन धर्मावलम्बी के साथ ही करूँगा, भले ही वह गरीब ही क्यों नहीं हो ! **धनादि एवं राजादि का पद क्षणिक है, विनाशीक है, पराधीन है। आज है, कल नहीं होगा। आज नहीं है, कल आ जाएगा, उसकी क्या कीमत ? परन्तु दिगम्बर जैन धर्म शाश्वत वस्तु है। यही आत्मा का साथी है, इसको छोड़कर कोई भी पदार्थ अपना नहीं है''** – इसप्रकार विचार-सागर में मग्न होकर सेठ गुणपाल व्यथित हो गया। उसने राजा के दूत को मीठे वचनों से समझाकर विदा किया।

तत्पश्चात् अपनी पत्नी धनश्री को बुलाकर उसका अभिप्राय जानने के लिये सेठ कहने लगा कि ''महाप्रतापी विश्वंधर महाराज बंधुश्री के साथ विवाह करना चाहते हैं – यह अपने लिये कितने गौरव की बात है ? बंधुश्री पटरानी बनेगी, राज दरबार में अपना मान अधिक होगा; अतः हमें शीघ्र ही बंधुश्री के विवाह की तैयारी करना चाहिये।''

तब धनश्री कहती है कि – ''हे स्वामिन् ! आज आपको यह क्या हो गया है ? आप अपने मुख से कैसी विचित्र बातें कर रहे हैं ? राजा विश्वंधर विधर्मी है – मिथ्यादृष्टि है। उसके साथ मेरी पुत्री का विवाह कभी नहीं हो सकता। वीतरागी प्रभु की सेवा बिना रूप, लावण्य, विद्या, धन, वैभव आदि सब व्यर्थ हैं। मदोन्मत्त हाथी के पैर के नीचे कुचलकर मार देना भले ठीक हो; परन्तु विधर्मी के साथ कन्या का विवाह करना ठीक नहीं है। जो व्यक्ति धर्म

की अपेक्षा राज्य और वैभव को अधिक महत्व देता है वह निम्न श्रेणी का होता है; क्योंकि दिगम्बर जैन धर्म के समक्ष राज्य वैभव तुच्छ है, अतः उस क्षणिक वैभव की तुलना दिगम्बर जैन धर्म के साथ नहीं हो सकती।

हे स्वामी ! आश्चर्य की बात है कि आप दिगम्बर जैन धर्म के मर्मज्ञ होने पर भी ऐश्वर्य को महत्व दे रहे हैं ? क्या आपने अनित्य सुख को हितकर मान लिया है। क्या आप बंधुश्री को नरक में डालना चाहते हैं ? आपकी पुत्री अत्यन्त धर्मानुरागिनी है। यदि उसका विवाह विधर्मी के साथ होगा तो उसका उद्धार होना असम्भव है। संसार में अनन्तकाल परिभ्रमण करते-करते अत्यन्त कठिनता से दिगम्बर जैन धर्म की प्राप्ति होती है, जो व्यक्ति दिगम्बर जैन धर्म को पाकर अपना कल्याण नहीं करता उसके समान मूर्ख और कौन हो सकता है ? विधर्मी राजा के साथ अपनी कन्या का विवाह करना अर्थात् कन्या को सिंह के लिए समर्पण करने के समान है। समझ में नहीं आता कि आप सम्पत्ति में मुग्ध कैसे हो गये ? धन, वैभव की प्राप्ति में कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; परन्तु धर्म प्राप्त करने में तो बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि संसार में दिगम्बर जैनधर्मी को वैभव स्वयं अपने पुण्यानुसार पर्याप्त प्राप्त होता है। विभूतियाँ उसके चरणों की दासी बन जाती हैं। **जो क्षणिक ऐश्वर्य को देखकर जैन धर्म को छोड़ देता है, वह कांच की चमक को देखकर माणिक को छोड़ देने वाले के समान है।**

मिथ्यादृष्टि का वैभव स्थिर नहीं रहता। उसकी सम्पत्ति थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाती है और वह दर-दर का भिखारी बनकर भटकता है। ऐश्वर्य होना कोई बड़प्पन नहीं है; परन्तु सत्य दिगम्बर धर्म को धारण करने से ही मनुष्य महान बन जाता है।

आप बुद्धिमान हो, धर्मात्मा हो, धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले हो; तो भी आपको ऐसा भ्रम क्यों हुआ ? आप स्वयं विचार करो, मेरी बात आपको कैसी लगती है ? मैं आपको क्या उपदेश दे सकती हूँ ? आप विशेषज्ञ हो, शास्त्र की मर्यादा के ज्ञाता हो – इस कारण मुझे आपकी आज्ञा ही शिरोधार्य है। फिर भी मैंने आपकी आज्ञानुसार अपने विचार आपके समक्ष

प्रस्तुत किये हैं; अत: आप जो भी निर्णय करेंगे उचित ही करेंगे। इसका मुझे पूरा विश्वास है।"

यह सब सुनकर गुणपाल सेठ अपनी पत्नी से कहता है कि तुम्हारी बुद्धि और उच्च विचार जानकर मेरे हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मैंने तो मात्र तुम्हारा भाव जानने के लिये ही यह कहा था। मैं भी विधर्मी को कन्या देने के पक्ष में सर्वथा नहीं हूँ। मेरा विचार कन्या का विवाह साधर्मी के साथ ही करने का है। अत: अब बंधुश्री को बुलाकर उसके विचार भी जान लेना चाहिये; क्योंकि विवाह में कन्या की सलाह लेना भी आवश्यक माना जाता है।

गुणपाल सेठ ने बंधुश्री को बुलाकर प्रेमपूर्वक कहा – "बेटी ! तेरे समान पुण्यवान कौन होगा ? क्योंकि मालव नरेश ने स्वयं तेरे साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा है और विवाह होने के तुरन्त बाद ही वे तुझे पटरानी के पद से सुशोभित करेंगे। तू समस्त राज्य सुख को भोगेगी। हमारा भी भाग्य जागेगा और समस्त देश हमारा सम्मान करेगा। दरबार में मुझे भी उच्चासन मिलेगा। और जब तेरे पुत्र को राज्य शासन मिलेगा तब हमारी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायेगी। बेटी ! हम धन्य हैं कि तेरे समान कन्या हमको प्राप्त हुई। आज हमारे समान सौभाग्यशाली कौन होगा ? ऐसा सुअवसर पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होता है।"

पिताश्री के ऐसे उल्टे शब्द सुनकर बंधुश्री खेद पूर्वक कहती है कि– "हे तात् ! क्षमा करना, आज आपको यह क्या हो गया है ? आप मुझे सांसारिक वैभव में लुभाना चाहते हैं। आप विधर्मी के साथ मेरा विवाह करके मेरे धर्म को नष्ट करना चाहते हो ? मैं सांसारिक वैभव की लौलुपी नहीं हूँ। धर्म को कौड़ी के मोल में बेचना – यह बुद्धिमानी नहीं है। क्या आप नहीं जानते कि यह दिगम्बर जैन धर्म ही समस्त प्राणियों का हितकारक है। यह धर्म ही त्रिभुवन में उत्तम है, पूज्य और वंदनीय है; समस्त सुख प्रदाता यह दिगम्बर जैनधर्म ही है। इस उत्तम धर्म को धारण करने से ही मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है। ऐसा जैनधर्म महान पुण्योदय से ही प्राप्त होता है।

पिताजी ! दिगम्बर जैनधर्म को दृढ़ता पूर्वक पालन करनेवालों के पूर्व में

अनेकों प्रसंग बन गये हैं, मैं उन्हीं में से आपको एक प्रसंग सुनाती हूँ – आप उसे ध्यानपूर्वक सुनना।

"महारानी चेलना राजगृही में आकर महाराज श्रेणिक के साथ परिणय-सूत्र में तो बंध जाती हैं, परन्तु शादी के पश्चात् जब उन्हें यह पता चलता है कि महाराज श्रेणिक का घर परम पवित्र जैनधर्म से रहित है। तब वे शोकमग्न होकर अत्यन्त दुःखी होती हैं और कहती हैं कि हाय !... पुत्र अभयकुमार ने यह महान बुरा किया, मेरे नगर में छल से जैनधर्म का वैभव बताया और मैं भी उसके इस मायाजाल में फँस गई। अहा ! जिस घर में पवित्र जैनधर्म की प्रवृत्ति है वही घर वास्तव में उत्तम है; परन्तु जहाँ पवित्र जैनधर्म की प्रवृत्ति नहीं है वह घर राजमहल होने पर भी कभी उत्तम नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ऐसा घर तो पक्षियों के घोंसले के समान है। संसार में धर्म हो और धन न हो तो, धर्म के पास धन का न होना तो ठीक है; परन्तु धर्म के बिना अतिशय मनोहर, सांसारिक सुख भी उत्तम नहीं है। भयंकर वन में निवास करना उत्तम है, कदाचित् अग्नि में जलने और विष से मृत्यु होना तो ठीक हो सकता है; परन्तु जैनधर्म रहित जीव का जीवन अच्छा नहीं है। पति भले ही कदाचित् बाह्य में बहुत वैभव व प्रभावशाली हो और जिनधर्मी न हो तो किस काम का? क्योंकि कुमार्गी पति के सहवास से इसभव-परभव में अनेक प्रकार के दुःख ही भोगने पड़ते हैं। हाय ! मैंने पूर्वभव में ऐसे कौन से घोर पाप किये थे कि जिससे मुझे इस भव में जिनधर्म से विमुख रहना पड़ा ? इस प्रकार जिनधर्मी चेलना पवित्र जैनधर्म रहित घर और पति मिलने पर कितना कष्ट महसूस करती थीं – यह तो आपको पता ही है।"

पिताजी मुझे महान आश्चर्य हो रहा है कि आप गृहीत मिथ्यादृष्टि के साथ मेरा विवाह करने के लिये किस प्रकार तैयार हो गये ? क्या आप मेरा हित नहीं चाहते ? जो आप मेरे परमहितैषी होकर भी विधर्मी के साथ मेरा विवाह करने को तैयार हुए हो ? मेरे लिए धर्म के समक्ष राजवैभव राख के समान है। आज आपको अपने सम्मान का ख्याल आता है; परन्तु विधर्मी के साथ मेरा विवाह करने कि अपेक्षा विष दे दें, तो उत्तम है; क्योंकि विष से तो एक बार ही

मरण होगा, परन्तु विधर्मी जीवन साथी के साथ तो पल-पल की जिन्दगी भी मौत से वद्तर होगी। अरे रे ! आप पिता होकर भी मेरा अनिष्ट करने के लिए तैयार हो गये हो। क्या इस समय कोई मेरी रक्षा नहीं करेगा ? – ऐसा कहते हुए बंधुश्री माँ के पास जाकर रुदन करने लगी।

बंधुश्री की धर्म के प्रति श्रद्धा देखकर गुणपाल सेठ कहता है कि – "हे पुत्री ! तू धन्य है, आज मेरा जीवन सफल हुआ। तेरी जैसी पुत्री पाकर मैं बहुत गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। बेटी ! मुझे तो मात्र तेरे विचार जानना थे, इसमें तू पूर्णरूपेण सफल हुई है। बेटी ! मैं जबतक जीवित हूँ, तबतक तेरा विवाह विधर्मी के साथ कभी नहीं होने दूँगा।"

गुणपाल सेठ विचार करने लगे "कि यहाँ रहने से राजा बलपूर्वक मेरी कन्या के साथ विवाह करने की कोशिश करेगा और राजाज्ञा उल्लंघन करने से दण्ड भी भोगना पड़ेगा। अतः यह नगर छोड़कर चले जाने से ही पुत्री व धर्म की रक्षा हो सकेगी।" – इसप्रकार विचार करके गुणपाल सेठ अपनी एक अरब आठ करोड़ की सम्पत्ति छोड़कर पुत्री एवं परिवार को लेकर रातों-रात अपने नगर को छोड़कर चले गये।

जब राजा को ज्ञात हुआ कि गुणपाल सेठ अपनी समस्त सम्पत्ति ज्यों की त्यों छोड़कर चले गये हैं तो राजा विचारता है कि उस धर्मात्मा ने मुझ पापी, कुकर्मी को कन्या देना उचित नहीं समझा; इस कारण यहाँ से चुपचाप रातों-रात अपनी एक अरब आठ करोड़ की सम्पत्ति छोड़कर चले गये। अहो ! वास्तव में दिगम्बर जैनधर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। मैंने कुधर्म का सेवन करके अपना जीवन बर्बाद किया है। इस प्रकार विचार करने पर राजा की बुद्धि/रुचि कुधर्म से छूट गई और उसने जिनधर्मानुयायी सेठ गुणपाल को खोजने के लिये चारों तरफ अपने सैनिक सादा भेष में भेज दिये।

– नयसेनाचार्य विरचित धर्मामृत के आधार पर

लालच बुरी बलाय

चम्पापुरी का राजा अभयवाहन था। उसकी रानी का नाम पुण्डरिका था। उसके नेत्र पुण्डरीक कमल जैसे थे। उस नगर में लुब्धक सेठ अपनी पत्नी नागवसु तथा गररुड़दत्त और नागदत्त नामक अपने दो हँसमुख पुत्रों के साथ रहता था।

लुब्धक अत्यन्त धनी होते हुए भी वेहद लोभी एवं संग्रही प्रवृति का था। इसी संग्रही प्रवृति के कारण उसने अपनी सम्पूर्ण धनराशि का व्यय करके सोने से पक्षी, हाथी, ऊँट, घोड़ा, सिंह, हिरन आदि पशुओं की एक-एक जोड़ी बनाई। उनके पंख, सींग, पूँछ, खुर इत्यादि में बहुमूल्य हीरे, माणिक, मोती इत्यादि रत्नों को जड़ाकर उसने उन वस्तुओं का एक दर्शनीय संग्रहालय बनाया। जो कोई भी इस प्रदर्शनी को देखता, वह लुब्धक की प्रशंसा करता। स्वयं लुब्धक भी उस जगमगाती प्रदर्शनी को देखकर अपने को धन्य मानता था। जब वह बैल की जोड़ी बना रहा था, तब वह एक बैल बनाकर उस पर तो सोना मढ़ चुका था, परन्तु सोना कम पड़ जाने के कारण वह दूसरा बैल नहीं बना सका था। उस को इस बात का बहुत दुःख था कि वह बैल की जोड़ी नहीं बना पाया।

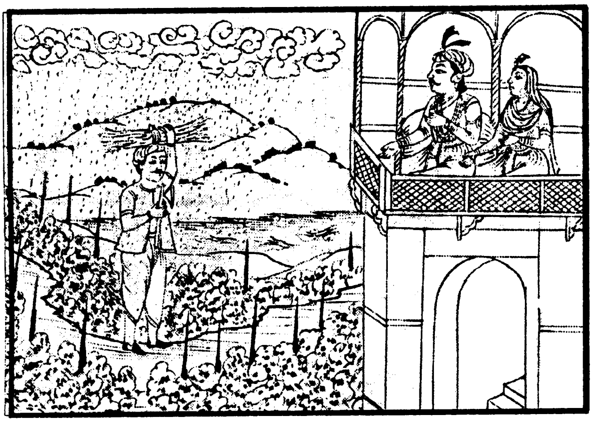

– इसकी चिन्ता उसको सतत रहा करती थी और वह इस कमी को पूरी करने के लिए अथक् परिश्रम व कोशिश करता रहता था।

एक बार लगातार सात दिनों तक पानी पड़ने से सभी नदी-नाले भर

गये थे। कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय में भी अपने दूसरे बैल के लिये लकड़ियाँ लेने स्वयं नदी के किनारे गया और उसने बहती नदी में से लकड़ियाँ निकाल कर गट्ठर बांधा और सिर पर रखकर घर की ओर चल दिया। सत्य है कि –

"तृष्णा की खाई ख़ूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही।"

रानी पुण्डरिका महल के झरोखे में बैठकर प्रकृति की शोभा देख रही थी, महाराज भी उनके साथ बैठे हुए थे। रानी ने बरसात में लुब्धक को लकड़ी के भार से लदे हुए आते देखकर राजा से कहा कि "प्राणनाथ ! तुम्हारे राज्य में यह कोई बहुत दरिद्री है। देखो, बरसात में भी लकड़ियों का गट्ठर लेकर आ रहा है। आप इसकी कुछ सहायता करो, जिससे इसका दुःख दूर हो।"

राजा ने उसी समय लुब्धक को बुलाया और कहा लगता है कि तुम्हारे घर की हालत ठीक नहीं है, इसलिये तुम्हें जितने द्रव्य की आवश्यकता हो उतना भण्डारी से ले जाओ।

लुब्धक ने कहा – महाराज ! मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिये, सिर्फ एक बैल की जरूरत है। राजा ने अपने बैलों में से एक बैल ले जाने को कहा। राजा के समस्त बैलों को देखकर लुब्धक ने राजा से कहा– हे पृथ्वीपति! आपके बैलों में मेरे बैल जैसा एक भी बैल नहीं है। यह सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। राजा ने लुब्धक से कहा– भाई ! तेरा बैल कैसा है ? मैं देखना चाहता हूँ। लुब्धक प्रसन्नता से राजा को अपने घर ले गया और अपना सोने का बैल दिखाया। राजा जिसको बहुत निर्धन मान रहा था, उसे इतना धनवान देखकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ।

लुब्धक की पत्नी नागवसु राजा को अपने घर आया देखकर राजा के लिए भेंट देने हेतु सुवर्ण थाल को बहुमूल्य रत्नों से सजाकर लाई और अपने पति से महाराज को भेंट देने के लिए सांकेतिक भाषा में कहने लगी। थाल को रत्नों से भरा देखकर लुब्धक की छाती फटने लगी; परन्तु महाराज के समीप में ही खड़े होने के कारण वह इंकार नहीं कर सका। अत: उसने थाल

में से अपनी मुट्ठी भर कर जैसे ही महाराज को देने के लिये हाथों को लम्बाया कि महाराज को उसके हाथ की अंगुलियाँ सर्प के फण के समान ज्ञात होने लगीं।

जिसने कभी किसी को एक कोड़ी भी नहीं दी हो, तो उसका मन अन्य की प्रेरणा से क्या कुछ भेंट दे सकता है ? नहीं।

राजा को उसके इस बर्ताव से बहुत दुख हुआ, अत: फिर वह वहाँ एक पल भी नहीं रुका और तत्काल ही उसका "फणहस्त" नाम रखकर वहाँ से चला गया।

लुब्धक की दूसरे बैल की इच्छा पूरी नहीं होने पर वह धन कमाने के लिये सिंहलद्वीप गया। वहाँ उसने लगभग चार करोड़ का धन कमाया। जब वह अपना धन-माल जहाज पर रख कर वापस आ रहा था तो समुद्र में तूफान आने से जहाज डूबकर समुद्र के विशाल गर्भ में समा गया। लुब्धक वहाँ ही आर्तध्यान से मरकर अपने धन का रक्षक सर्प हुआ। तब भी वह उसमें से किसी को एक कोड़ी भी नहीं लेने देता।

सर्प को धन पर बैठा हुआ देखकर लुब्धक के बड़े पुत्र गरुड़दत्त को बहुत गुस्सा आया। उसने उसी समय उसे मार दिया। मरकर वह चौथे नरक में गया, जहाँ पापकर्मों का निरन्तर महाकष्ट भोगना पड़ता है।

देखो, लोभ के फलस्वरूप जीवनभर कठिन परिश्रम करके कमाये हुए धन का न तो वह लुब्धक स्वयं भोग कर सका और ना ही उसके कारण वह परिवार को ही भोगने मिला तथा ना ही वह उस धन का उपयोग किसी परोपकार या धार्मिक अनुष्ठान में कर सका। बल्कि उसके लोभ में मरकर सर्प हुआ और अन्त में नरक के भयंकर दु:खों में जा गिरा।

अत: सज्जन पुरुषों को लोभ ही नहीं वरन् सभी कषायों को हालाहल जहर की भाँति छोड़ देना चाहिए; क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभादि के वश होकर यह जीव अनन्त काल तक दुःख भोगता है। अतः सुखाभिलाषियों को लोभादि का परित्याग करके जिनेन्द्र भगवान के उपदेश अनुसार धर्म का आचरण करना चाहिये; क्योंकि धर्म सर्व सुखदायक है, धर्म मोक्षप्रदायक है।

– आराधना कथाकोष में से संक्षिप्त सार

शरण किसकी ?

प्रत्येक जैन प्रतिदिन बोलता है – लोक में चार ही मंगल हैं, चार ही उत्तम हैं और मैं इन चार – अरहन्त सिद्ध साधु और धर्म की ही शरण लेता हूँ; क्योंकि इन्होंने ही अपने संकटों का हरण किया था और उनके संकट दूर करने वाला अन्तिम शरण्यभूत धर्म है। जिस-जिसने धर्म (आत्म-स्वभाव) की शरण ली, उनके ही सब संकट दूर हो गए इसलिए अन्य की शरण में जाना महा-मूर्खता है।

*'**अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम**' भगवान आपको छोड़कर कोई दूसरा शरण योग्य नहीं है।*

यह कितना बड़ा अपने साथ, अपने धर्म तथा समाज के साथ छल है कि चत्तारि शरणं कहते जावें और इन कुदेवों को भी शरण मानते रहें।

– ज्ञानदीपिका से साभार

शियार चला सिद्धों के मार्ग

(रात्रि भोजन-त्याग की कथा)

पवित्र जिनधर्म तथा गुरुजनों को नमस्कार करके उनकी कथा लिखते हैं कि जिन्होंने रात्रि भोजन त्याग करके आगे चलकर मोक्ष प्राप्त किया।

जो महानुभाव जीवों की रक्षा के लिये रात्रि भोजन का त्याग करते हैं वे इसलोक तथा परलोक दोनों में सुखी रहते हैं। उनको हर प्रकार की सम्पदा सुलभ होती है और जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं वे पापी होते हैं, उनको जीव हिंसा का पाप लगता है। इसलिये सभी के लिये रात्रि भोजन का त्याग हितकारी है। एक शियार ने मुनिराज से रात्रि भोजन-पान के त्याग का नियम लेकर जीवन पर्यंत उस नियम का निर्वाह किया और अगले ही भव में मोक्षलक्ष्मी का वरण कर अनन्त सुखी हुआ, उसका यहाँ कथारूप में वर्णन करते हैं।

मगधदेश में सुप्रतिष्ठित नाम का नगर अपनी सुन्दरता तथा विशालता के लिये प्रख्यात था। वहाँ के राजा जयसेन धर्मज्ञ तथा प्रजापालक थे।

वहाँ धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी धनमित्रा थी। यह दम्पति जैनधर्म के दृढ़श्रद्धानी थे। एक दिन उनके पुण्य योग से उन्हें सागरसेन नामक अवधिज्ञानी मुनिराज को आहार देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनिराज के आहारोपरान्त उन्होंने अतिविनय पूर्वक हाथ जोड़कर उनसे धर्मोपदेश सुनाने का निवेदन किया और कहा कि – "हे प्रभो ! अब हमको संतान की आशा नहीं रही। अत: इस संसार की मोह-माया में फंसने से उत्तम है कि जिनदीक्षा ग्रहण करके आत्महित करें।

तब अवधिज्ञानी मुनिराज ने कहा कि अभी दीक्षा का शुभ अवसर नहीं है। तुमको पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। उसके द्वारा अनेक प्राणियों का कल्याण होगा। मुनि की ऐसी भविष्यवाणी सुनकर सेठ दम्पति प्रसन्न हुए।

तभी से सेठानी धनमित्रा जिनपूजादि धार्मिक अनुष्ठानों की ओर विशेष ध्यान देने लगीं। उसने थोड़े समय के पश्चात् यथासमय एक प्रतापी पुत्र को

जन्म दिया। पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में सेठ ने उत्सव किया, पूजा प्रभावना की और उस बालक का नाम प्रीतिंकर कुमार रखा। उसकी सुन्दरता कामदेव के समान थी। जब प्रीतिंकर पांच वर्ष का हुआ तो उसके पिता ने उसे विद्या पढ़ने के लिये गुरु के पास भेज दिया, कुमार अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण थोड़े ही समय में विद्वान बन गया। धनी और विद्वान होने पर भी प्रीतिंकर में अभिमान का नामोनिशान नहीं था। वह हमेशा शिक्षण देता और धर्मोपदेश करता। महाराज जयसेन भी उसकी इस परोपकारिता से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वस्त्राभूषणों से प्रीतिंकर का सम्मान किया।

यद्यपि प्रीतिंकर को धन की कमी नहीं थी; तथापि उसको कर्तव्यहीन होकर बैठा रहना ठीक नहीं लगा। उसे धन प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं स्वयं धनोपार्जन नहीं करूँगा तब तक विवाह नहीं करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह धनोपार्जन हेतु विदेश के लिये रवाना हुआ। विदेश में वर्षों रहकर प्रीतिंकर कुमार ने बहुत धन अर्जित किया और उस धन सहित जब वापस घर आया, तब उसके माता-पिता आदि सभी को अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रीतिंकर की ऐसी लगन देखकर महाराज जयसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी पुत्री पृथ्वीसुन्दरी का विवाह प्रीतिंकर से करके उसे आधा राज्य भी दे दिया। इसी बीच अन्य देशों की राजकुमारियों के साथ भी प्रीतिंकर का विवाह सम्पन्न हुआ।

प्रीतिंकर राज्यविभूति प्राप्तकर आनन्द पूर्वक रहने लगा। वह प्रतिदिन जिनपूजा एवं शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन-मनन आदि करता था। परोपकार करना तो उसके जीवन का अंग था। एकबार सुप्रतिष्ठितपुर के सुन्दर बगीचे में चारण ऋद्धिधारी मुनि ऋजुमति और विपुलमति पधारे। प्रीतिंकर कुमार ने आदर पूर्वक उनका सम्मान किया और अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करके धर्म का स्वरूप पूछा।

मुनिराज ने धर्म का स्वरूप इसप्रकार बताया –

प्रीतिंकर! **धर्म वह है जिससे संसार के दु:खों से रक्षा तथा उत्तम सुख प्राप्त**

हो। धर्म के दो भेद हैं – मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म। मुनिधर्म सर्व त्याग रूप होता है और गृहस्थ घर में रहकर ही धर्म का पालन करता है। मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहला साक्षात् मोक्ष का कारण है और दूसरा परम्परा से। मुनिराज के उपदेश से प्रीतिंकर को जैनधर्म के प्रति श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई। उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से प्रार्थना की कि मेरे पूर्वभव की कथा सुनाओ ? मुनिराज कहने लगे–

''एकबार इस बगीचे में तपस्वी सागरसेन मुनि उतरे थे। नगर निवासी गाजते-बाजते मुनिराज के दर्शन के लिये आये थे। लोगों के चले जाने के बाद वहाँ एक शियार आया और एक मृत देह का भक्षण करने को तैयार हुआ कि तभी मुनिराज ने उसे समझाया कि 'पाप-परिणामों का फल बहुत बुरा होता है। तू मुर्दे को खाने के लिये इतना व्याकुल है, धिक्कार है तुझे। तू जैनधर्म ग्रहण न करके आज तक बहुत दुःखी हुआ है। अब तू पुण्य के रास्ते चलना सीख।'

उसकी होनहार ठीक थी; अतः वह मुनिराज का उपदेश सुनकर शान्त हो गया। मुनिराज ने आगे कहना शुरु किया कि 'तू विशेष व्रतों को तो धारण नहीं कर सकता। अतः रात्रि में खाना-पीना छोड़ दे। यह व्रत समस्त व्रतों का मूल है।' शियार ने ऐसा ही किया। वह हमेशा मुनिराज के चरणों का स्मरण करता रहता था।

इस प्रकार शियार का जीवन व्रत सहित बीतने लगा। एकबार दिन में ही अम्बर में घने मेघों के छा जाने से दिन ही रात्रि के समान भाषित होने लगा। फिर भी मेघों के अन्दर छुपा हुआ सूर्य खुले मैदान में तो अपने प्रताप से दिन की सत्ता का अहसास करा रहा था, परन्तु बावड़ी के भीतर कुछ अंधकार-सा प्रतीत होने के कारण वहाँ रात्रि-सी लगने लगी थी। इसी समय में उस शियार को बहुत जोर से प्यास लगी, वह बावड़ी के अन्दर पानी पीने गया। बावड़ी के अन्दर अन्धकार था, वह समझा कि रात्रि हो गई है। अतः बिना पानी पिये ही वापस आ गया।

इस प्रकार वह जितनी ही बार भी बावड़ी में उतरा और वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं देख कर वापस आ जाता। अन्त में बिना पानी पिये दुःखी हो गया और अन्तिम बार बावड़ी में उतरा; परन्तु वापिस नहीं आ सका। वहाँ ही उसका मरण हो गया। मृत्यु के उपरान्त उसने (तूने) धनमित्रा के गर्भ से

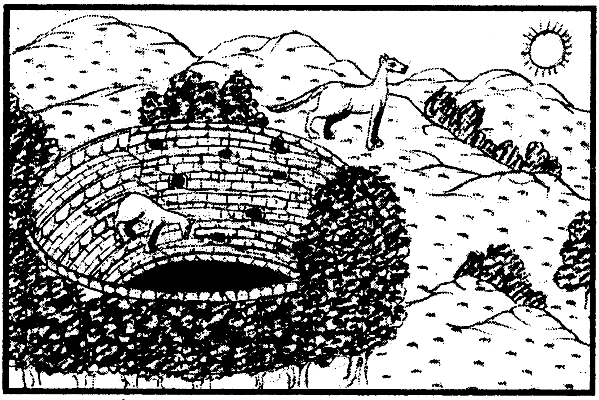

प्रीतिंकर के रूप में जन्म लिया है। यह तेरा अन्तिम शरीर है। तू कर्मों का अभाव करके मोक्ष प्राप्त करेगा।"

इस प्रकार मुनिराज के श्रीमुख से पूर्वभव का वृतान्त सुनकर राजा प्रीतिंकर को वैराग्य हो गया। उसे विषय भोगों से विरक्ति हो गई। वह अपने पुत्र प्रियंकर को राज्य देकर भगवान वर्द्धमान स्वामी के समवसरण में गया और उसने त्रिलोक पूज्य भगवान के दर्शन करके जिनदीक्षा ले ली। तत्पश्चात् प्रीतिंकर मुनिराज ने शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके पवित्र उपदेशामृत से संसार के जीव दुःख से छुटकारा पाकर सुखी हुए। प्रीतिंकर मुनिराज का यह चरित्र पढ़कर भव्यजन चिरकाल तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते रहेंगे।

एक पशु पर्याय में उत्पन्न शियार ने केवल रात्रिभोजन त्यागकर मनुष्य योनि में जन्म लिया और सुख भोगकर मोक्ष प्राप्त किया। इसी प्रकार भव्यजीवों को भी अनन्तसुख की प्राप्ति के लिये जैनधर्म में दृढ़ विश्वास कर अपने आत्मा की साधना और परमात्मा की आराधना कर अपना जीवन सफल करना चाहिए।

–आराधना कथाकोष में से संक्षिप्त सार

विवाह मण्डप से वैराग्य

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वत्सकावती देश है, जहाँ सदा अनेक केवली भगवन्त और मुनिवर विचरते हैं तथा जैनशासन का धर्मचक्र सदा चलता रहता है। वहाँ के लोग जैनधर्म में सदा तत्पर रहते हैं और स्वर्ग के देव भी वहाँ धर्म श्रवण करने आते हैं। उस देश की प्रभाकरी नगरी में धर्मात्मा स्मितसागर महाराजा राज्य करते थे। स्मितसागर महाराजा के अपराजित और अनन्तवीर्य नामक दो पुत्र थे। वे अपने साथ महान पुण्य लेकर आये थे; इसलिए वे बलदेव और वासुदेव हुए।

राजा स्मितसागर दोनों पुत्रों को राज्य सौंपकर संसार से विरक्त हुए और स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के निकट दीक्षा लेकर मुनि हो गये; परन्तु एकबार धरणेन्द्रदेव की दिव्य विभूति देखकर उन्होंने उसका निदान बंध किया; इसलिए चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य को अति अल्प करके मृत्यु के पश्चात् धरणेन्द्र हुए। **अरे रे! निदान वह वास्तव में निन्दनीय है जो कि जीव को धर्म से भ्रष्ट करके दुर्गति में भ्रमण कराता है।**

यहाँ प्रभाकरी नगरी में अपराजित तथा अनन्तवीर्य के राज्यवैभव में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। उनकी राजसभा में बर्बरी और चिलाती नाम की दो राजनर्तकियाँ थीं – वे देश-विदेश में प्रख्यात थीं। उन दिनों शिवमन्दिर नाम की विद्याधरनगरी में राजा दमितारी राज्य करता था, वह प्रतिवासुदेव था, उसने तीन खण्ड पृथ्वी जीत ली थी और उसके शस्त्रभण्डार में एक दैवी चक्र उत्पन्न हुआ था। उस दमितारी राजा ने उन दोनों नर्तकियों की प्रशंसा सुनी; उसने बलदेव-वासुदेव को आदेश दिया कि दोनों नर्तकियाँ मुझे सौंप दो और मेरी आज्ञा में रहकर राज्य करो।

दोनों भाईयों ने युक्ति सोची, तदनुसार वे स्वयं ही नर्तकी का रूप धारण कर दमितारी के राजमहल में पहुँच गये और उसकी पुत्री कनकश्री का अपहरण कर ले गये।

कनकश्री के अपहरण की बात सुनते ही राजा दमितारी सेना लेकर उन

दोनों के साथ युद्ध करने चला गया। जब वह उन्हें किसीप्रकार जीत नहीं सका, तब उसने अनन्तवीर्य को मारने के लिये उस पर अपना दैवी चक्र फैंका; परन्तु अनन्तवीर्य के पुण्यातिशय के कारण वह चक्र उसके निकट आते ही शान्त हो गया और उलटा उसका आज्ञाकारी बन गया। अनन्तवीर्य ने क्रोधपूर्वक उस चक्र द्वारा दमितारी का शिरच्छेद कर दिया। **अरे रे ! उसी के चक्र ने उसी का वध कर दिया।**

मरकर दमितारी नरक में गया। दमितारी प्रतिवासुदेव के पिता कीर्तिधर मुनि हुए थे और केवलज्ञान प्रकट करके अरिहन्त रूप में विचर रहे थे। अरे ! पिता तो केवली हुए और पुत्र नरक में गया। पुत्री कनकश्री अपने दादा कीर्तिधर भगवान के समवसरण में अपने पूर्वभव जानकर, संसार से विरक्त होकर आर्यिका हुई और समाधिमरण करके स्वर्ग में देवी हुई।

अत: हे भव्यजीवो ! तुम मोक्ष के हेतु जैनधर्म की उपासना करो। अहा ! जैनधर्म की उपासना तो मोक्षफल प्राप्त कराती है; वहाँ बीच में स्वर्गादि की गिनती ही क्या ?

अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों भाई (अर्थात् शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा चक्रायुध गणधर के जीव) विदेहक्षेत्र में बलदेव-वासुदेव रूप में प्रसिद्ध हुए। हजारों राजा तथा देव उनकी सेवा करते थे, तीन खण्ड की उत्तम विभूति उन्हें प्राप्त हुई थी, अनेक दैवी विद्याएँ भी उनको सिद्ध थीं। यह सब जिनधर्म की सेवा-भक्ति का फल था।

विदेहक्षेत्र की प्रभाकरी नगरी में बलदेव-अपराजित और वासुदेव-अनन्तवीर्य दोनों भाई जब सुखपूर्वक तीन खण्ड का राज्य करते थे। तब एकबार बलदेव की पुत्री कुमारी सुमति के विवाह की तैयारियाँ चल रही थीं। अतिभव्य विवाह-मण्डप के बीच सुमति कुमारी सुन्दर शृंगार सजकर आयी थी कि इतने में आकाश से एक देवी उतरी और सुमति से कहने लगी –

"हे सखी ! सुन, मैं तेरे हित की बात कहती हूँ। मैं स्वर्ग की देवी हूँ, तू भी पूर्वभव में देवी थी और हम दोनों सहेलियाँ थीं। एकबार हम दोनों

नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करने गये थे; पश्चात् हम दोनों ने मेरु जिनालय की भी वन्दना की थी। वहाँ एक ऋद्धिधारी मुनिश्री के दर्शन किये थे और धर्मोपदेश सुनकर हमने उन मुनिराज से पूछा था कि हे स्वामी ! इस संसार से हम दोनों की मुक्ति कब होगी ?"

तब मुनिराज ने कहा था – "तुम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करोगी।"

देवी ने आगे कहा – "हे सुमति ! यह सुनकर हम दोनों अतिप्रसन्न हुए थे और हम दोनों ने मुनिराज के समक्ष एक-दूसरे को वचन दिया था कि हम में से जो पहले मनुष्यलोक में जन्म लेगा, उसे दूसरी देवी सम्बोधकर आत्महित की प्रेरणा देगी; इसलिए हे सखी ! मैं स्वर्ग से उस वचन का पालन करने आई हूँ। तू इन विषय-भोगों में न पड़, संयम धारण कर और आत्महित कर ले।"

विवाह-मण्डप के बीच देवी की यह बात सुनते ही बलदेव की वीरपुत्री सुमति को अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ और वैराग्य को प्राप्त हुई। उसने अन्य सात सौ राजकन्याओं के साथ सुवृता नाम की आर्यिका के पास जिनदीक्षा ग्रहण की और आर्यिकाव्रत का पालन करके स्त्रीपर्याय छेदकर उस सुमति के जीव ने तेरहवें स्वर्ग में देवपर्याय प्राप्त की।

अचानक विवाह-मण्डप में ही राजकुमारी को 'विवाह के समय वैराग्य' की घटना से चारों ओर आश्चर्य फैल गया। बलभद्र का चित्त भी संसार से उदास हो गया। यद्यपि उनको संयम भावना जागृत हुई, किन्तु अपने भ्राता

अनन्तवीर्य के प्रति तीव्र स्नेह के कारण वे संयम धारण न कर सके। ऐसा महान वैराग्य प्रसंग प्रत्यक्ष देखकर भी अनन्तवीर्य वासुदेव को (पूर्व के निदानबन्ध के मिथ्या संस्कारवश) किंचित् भी वैराग्य नहीं हुआ; उसका जीवन दिन-रात विषय भोगों में ही आसक्त रहा। तीव्र विषयासक्ति के कारण सदा आर्त्त-रौद्र ध्यान में वर्तता हुआ वह पंचपरमेष्ठी को भी भूल गया।

अरे ! जिस धर्मानुराग के कारण वह ऐसे पुण्यभोगों को प्राप्त हुआ था, उस धर्म को ही वह भूल गया। अपने भाई के साथ अनेकों बार वह प्रभु के समवसरण में भी जाता और धर्मोपदेश भी सुनता; परन्तु उसका चित्त तो विषय-भोगों से रंगा हुआ था। **अरे रे ! जिसका चित्त ही मैला हो उसके लिए परमात्मा का संयोग भी क्या कर सकेगा ? तीव्र आरम्भ परिग्रह के कलुषित भाव के कारण वह अनन्तवीर्य रौद्रध्यानपूर्वक मरकर नरक में गया।**

वह अर्धचक्रवर्ती का जीव महाभयंकर नरक के बिल में औंधे मुँह नीचे की कर्कशभूमि पर जा गिरा। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से उसे इतना भयंकर दुःख हुआ कि पुनः पाँच सौ धनुष ऊपर उछला और फिर नीचे गिरा, गिरते ही खण्ड-खण्ड हो गया, जिससे उसे असह्य शारीरिक वेदना हुई, पुनः शरीर पारे की भाँति जुड़ गया। उसे देखते ही दूसरे हजारों नारकी आकर उसे मारने लगे।

– ऐसे भयंकर दुःख देखकर उसे विचार आया कि "अरे ! मैं कौन हूँ ? कहाँ आकर पड़ा हूँ ? मुझे अकारण ही इतना दुःख देनेवाले यह क्रूर जीव कौन हैं ? मुझे क्यों इतनी भयंकर पीड़ा दी जा रही है ? अरे रे ! मैं कहाँ जाऊँ ? अपना दुःख किससे कहूँ ? यहाँ मुझे कौन बचायेगा ? भीषण ताप और भूख-प्यास के कारण मुझे मृत्यु से भी अधिक वेदना हो रही है। मुझे बहुत प्यास लगी है; लेकिन पानी कहाँ मिलेगा ?" – इसप्रकार दुःखों से चिल्लाता हुआ वह जीव इधर से उधर भटकने लगा। वहाँ उसने कुअवधिज्ञान से जाना कि अरे ! यह तो नरकभूमि है, पापों के फल से मैं नरकभूमि में आ पड़ा हूँ और यह परम-अधर्मी असुर देव अन्य नारकियों को पूर्व की याद दिलाकर भयंकर दुःख देने के लिए प्रेरित कर मुझे मेरे पापों का फल चखा रहे हैं। **अरे रे ! दुर्लभ मनुष्यभव विषयभोगों में**

गँवाकर मैं इस घोर नरक में आ पड़ा हूँ। मुझ मूर्ख ने पूर्वभव में धर्म के फल में भोगों की चाह करके सम्यक्त्वरूपी अमृत को ढोल दिया और विषसमान विषयों की लालसा की। उस भूल के कारण मुझे वर्तमान में कैसे भयंकर दु:ख भोगने पड़ रहे हैं। अरेरे! विषयों में से तो मुझे किंचित् सुख नहीं मिला, उलटा उनके सेवन से दु:खों के इस समुद्र में आ पड़ा हूँ।

बाह्य विषयों में सुख है ही कहाँ ? सुख तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय **आत्मसुख की प्रतीति करके मैं पुन: अपने सम्यक्त्व को ग्रहण करूँगा, ताकि फिर कभी ऐसे घोर नरकों के दु:ख नहीं सहना पड़ें।**

– इसप्रकार पश्चाताप सहित नरक के घोरातिघोर दु:खों को सहन करता हुआ वह अनन्तवीर्य का जीव अपनी असंख्यात वर्ष की नरकायु का एक-एक पल बड़ी कठिनाई पूर्वक, रो-रोकर व्यतीत कर रहा था। अरे ! उसके दु:ख का अल्प वर्णन लिखते हुए भी कपकपी आती है तो वह दु:ख सहन करनेवाले की पीड़ा को तो हम क्या कहें ? **वह तो वही वेदे और केवली प्रभु ही जानें। परन्तु वहाँ नरक में भंयकर वेदना के काल में भी अपने पूर्वभव के पिता स्मितसागर, जो कि निदानबंध करके धरणेन्द्र हुए थे, उनके सम्बोधन से उस अनन्तवीर्य वासुदेव के जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त कर पुन: मोक्षमार्ग में गमन किया ।**

इधर प्रभाकरी नगरी में अपने भ्राता अनन्तवीर्य वासुदेव की अचानक मृत्यु हो जाने से अपराजित बलभद्र को तीव्र आघात लगा। 'मेरे भाई की मृत्यु हो चुकी है' – ऐसा स्वीकार करने को उनका मन तैयार ही नहीं होता था। यद्यपि स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध में उससमय उनका ज्ञान जागृत था, परन्तु वे भ्रातृस्नेह के कारण मृतक को जीवित मानने की परज्ञेय सम्बन्धी भूल कर बैठे। वे अनन्तवीर्य के मृत शरीर को कन्धे पर उठाकर छह माह तक इधर-उधर घूमते फिरे; उसके साथ बात करने की तथा खिलाने-पिलाने की चेष्टायें करते रहे।

औदयिकभाव की विचित्रता तो देखो कि सम्यक्त्व की भूमिका में स्थित एक भावी तीर्थंकर स्वयं भावी गणधर के मृत शरीर को लेकर छह महीने तक फिरते रहे. किन्तु धन्य है ! **उनकी सम्यक्त्व चेतना को....जिसने अपनी**

आत्मा को उस औदयिकभाव से भिन्न का भिन्न ही रखा। भाग्ययोग से उसीकाल में उन बलभद्रजी को यशोधर मुनिराज का समागम हुआ; उन्होंने चैतन्यतत्त्व का अद्भुत उपदेश देकर कहा कि "राजन्! तुम तो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हो; इसलिए अब इस बन्धुमोह को तथा शोक को छोड़ो और संयम धारण करके अपना कल्याण करो !! छह भव के पश्चात् तो तुम भरतक्षेत्र में तीर्थंकर होओगे; यह मोहासक्तिपूर्ण चेष्टायें तुम्हें शोभा नहीं देतीं, इसलिए तुम अपने चित्त को शान्त करो और उपयोग को आत्मध्यान में लगाओ।"

मुनिराज का उपदेश सुनते ही बलदेव को वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनकी चेतना झंकृत हो उठी – अरे! **किसका शरीर और कौन भाई ? जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ दूसरा कौन अपना होगा ?**

मम मोह कोई भी नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।

अरे! मैंने मोहचेष्टा में व्यर्थ ही समय गँवा दिया – ऐसा विचारकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन अपराजित मुनिराज ने अपना मन आत्मसाधना में ही लगाया और अन्त समय में उत्तम ध्यानपूर्वक शरीर त्यागकर वे महात्मा सोलहवें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

गर्व किस पर ?

एक सम्राट मुनिराज के पास उपदेश सुनने के लिये पहुँचे। सम्राट ने बड़े गर्व से अपना परिचय दिया।

मुनिराज ने पूछा –'तुम रेगिस्तान में भटक जाओ और प्यास से दम घुटने लगे और उस बक्त कोई गन्दे नाले का लोटा भर पानी लाकर तुमसे कहे – 'इस लोटे भर पानी का मूल्य आधा राज्य है।' तुम क्या करोगे ?

सम्राट ने कहा – 'मैं तुरन्त वही पानी ले लूँगा।'

फिर मुनिराज ने कहा – यदि वह सड़ा पानी पेट में जाकर रोग उत्पन्न करदे और तुम मरणासन्न हो जाओ और उस समय एक हकीम पहुँचकर तुमसे कहे कि अपना आधा राज्य दे दो, मैं तुम्हें ठीक कर सकता हूँ। तब तुम क्या करोगे ?

राजा बोला – उसे आधा राज्य देकर अपने प्राणों की रक्षा करूँगा। जीवन ही नहीं तो राज्य किस काम आयेगा ?

तब मुनिराज ने समझाया कि – जो एक लोटे सड़े पानी और उससे उत्पन्न रोग के लिये दिया जा सके – ऐसे तुच्छ राज्य पर गर्व कैसा ?

चक्ररत्न भी कुम्हार के चाक समान

(पिता-केवली, पुत्र-चक्रवर्ती, प्रपौत्र-तीर्थंकर)

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में पुण्यशाली भव्यात्मा आत्मा तद्भव मोक्षगामी गुणपाल नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम कुबेरश्री था। राजा गुणपाल संसार को असार जानकर गृहस्थ अवस्था का त्याग कर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार कर आत्मसाधना करने लगे। इधर उनके दोनों पुत्र वसुपाल व श्रीपाल जब अपनी माता कुबेरश्री के साथ रहते हुए अपने राज्य का भलीप्रकार संचालन कर रहे थे। तभी एक दिन पुण्योदय से माता कुबेरश्री को वनपाल ने आकर यह शुभ व कल्याणकारी समाचार सुनाया कि सुरगिरि नामक पर्वत पर गुणपाल मुनिराज (जो इसी भव में कुबेरश्री के पति थे) को केवलज्ञान प्रगट होने से सर्वत्र आनन्द छाया हुआ है।

यह मंगलकारी समाचार सुनकर उन्होंने प्रथम तो उन केवली भगवान को सात पैड़ चलकर नमस्कार किया, पश्चात् वनपाल को पारितोषिक देकर विदा किया और स्वयं अपने दोनों पुत्रों व सम्पूर्ण नगरवासियों सहित केवली भगवान के दर्शन-वन्दन हेतु चल पड़ीं।

मार्ग में वे सभी एक उत्तम वन में पहुँचे जो कि अच्छे-अच्छे वृक्षों से सुशोभित हो रहा था और जिसमें किसी समय किसी वट वृक्ष के नीचे खड़े होकर महाराज जगत्पाल चक्रवर्ती ने संयम धारण किया था। आज उसी वृक्ष के नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े उत्साह से देखने लगे। देखते-देखते कुमार श्रीपाल ने कहा कि "यह स्त्री का वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुष का रूप धारण कर स्त्री नाच रही है। यदि यह स्त्री, स्त्री के ही वेष में नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता।" श्रीपाल की बात सुनकर नटी मूर्च्छित हो गयी। उसी समय अनेक उपायों से नटी को सचेत कर कोई अन्य स्त्री (नट का रूप धारण करनेवाली स्त्री की माँ, जिसका नाम प्रियरति है।) उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपाल से विनयपूर्वक

इसप्रकार कहने लगी कि ''सुरम्य देश के श्रीपुर नगर के राजा का नाम श्रीधर है, उसकी रानी का नाम श्रीमती है और उसकी जयावती नाम की पुत्री है। उसके जन्म के समय ही निमित्तज्ञानियों ने कहा था कि यह चक्रवर्ती की पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्ती की पहचान यही है कि जो नट और नटी के भेद को जानता हो वही चक्रवर्ती होगा। हम लोग उसी की परीक्षा करने के लिए आये हैं, पुण्योदय से हम लोगों ने निधि के समान इच्छानुसार आपके दर्शन किये हैं। मेरा नाम प्रियरति है, यह पुरुष का आकार धारण कर नृत्य करने वाली मदनवेगा नाम की मेरी पुत्री है और स्त्री का वेष धारण करनेवाला यह वासव नाम का नट है। यह सुनकर राजा ने सन्तुष्ट होकर उस स्त्री को योग्यतानुसार सन्तोषित किया पश्चात् सभी अपने पिता केवली गुणपाल की वन्दना के लिए सुरगिरि नामक पर्वत की ओर चल दिए।

इधर मार्ग में कोई पुरुष घोड़ा लेकर आ रहा था, उस पर आसक्तचित्त हो श्रीपाल ने सवारी की और उस घोड़े को दौड़ाया। कुछ दूर तक तो वह घोड़ा पृथ्वी पर दौड़ा, फिर अपना विद्याधर का आकार प्रगट कर उसे आकाश में ले उड़ा। वहाँ रहनेवाले वनदेवता ने उस विद्याधर को ललकारा, देवता की ललकार से डरे हुए उस अशनिवेग नाम के विद्याधर ने अपनी भेजी हुई पर्णलघु विद्या से उस कुमार श्रीपाल को रत्नावर्त नाम के पर्वत के शिखर पर छोड़ दिया। परन्तु उस देव ने भी श्रीपाल को वहाँ से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के बजाय वहीं छोड़ दिया; क्योंकि उस देव को अपने ज्ञान से यह पता चल गया था कि श्रीपाल को इस रत्नावर्त पर्वत पर अनेक प्रकार से धन, यश, स्त्री आदि का लाभ होने वाला है।

श्रीपाल की माता कुबेरश्री एवं भाई वसुपाल अपने निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार श्री गुणपाल केवली के दर्शन करने पहुँच गये। वहाँ वसुपाल ने अपने भाई श्रीपाल के हरण के सम्बन्ध में केवलीप्रभु से समाधान चाहा, तब केवली भगवान की दिव्यवाणी में आया कि ''श्रीपाल अनेक प्रकार के लौकिक लाभ अर्जित कर शीघ्र ही वापिस आयेंगे।''

''केवली के वचन कभी झूंठ नहीं होते, यह बात जग प्रसिद्ध है; क्योंकि

वे एक समय में ही तीन काल तीन लोक के समस्त चराचर पदार्थों को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जान लेते हैं।''– ऐसा विचार कर वसुपाल निश्चिंत हो, केवली प्रभु की दिव्यध्वनि का लाभ लेने में मग्न हो गये।

केवली के वचनानुसार श्रीपाल कुछ ही समय में अनेक रानियों और वैभव के साथ केवली भगवान के दर्शनार्थ सुरगिरि पर्वत पर आ पहुँचे। उन्होंने वहाँ गुणपाल जिनेन्द्र की वन्दना-स्तुति करने के पश्चात् अपनी माता व भाई वसुपाल का भी आशीर्वाद प्राप्त किया। अपने साथ आई हुई रानी सुखावती का अपनी माता व भाई से यह कहकर परिचय कराया कि ''मैं इसके प्रभाव से ही कुशलतापूर्वक आपके पास आ सका हूँ।'' सो ठीक ही है – सज्जन पुरुष अपने ऊपर किए हुए उपकारों को कभी नहीं भूलते।

पश्चात् वे सात दिन में सुखपूर्वक अपने नगर में प्रविष्ट हुए। सो ठीक ही है, क्योंकि प्रबल पुण्य का उदय होने के कारण पुरुषों पर आई आपत्तियाँ भी सम्पत्ति व सम्मान लेकर आती हैं।

इसप्रकार अनेक प्रकार के जगत सुख भोगते हुए श्रीपाल को एक दिन रूपवान व गुणवान जयावती रानी के उदर से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। वह गुणों की खान होने से, ज्योतिषियों ने उसका नाम 'गुणपाल' ही रख दिया। तथा उसी दिन राजा श्रीपाल की आयुध शाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। चक्ररत्न की प्राप्ति से वे राजा श्रीपाल – चक्रवर्ती सम्राट बन गये। चक्रवर्ती श्रीपाल के पुत्र गुणपाल के युवा होने पर जयसेना आदि अनेक गुणवान कन्याओं से उनका विवाह हुआ।

जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है – ऐसे श्रीपाल पुत्र राजकुमार गुणपाल काललब्धि आदि से प्रेरित होकर एक दिन आकाश की ओर देख रहे थे कि इतने में उनकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकार से भरे हुए चन्द्रग्रहण की ओर पड़ी, उसे देखकर वे सोचने लगे कि ''इस संसार को धिक्कार है, जब इस चन्द्रमा की भी यह दशा है तब संसार के अन्य पापग्रसित जीवों की क्या दशा होगी ?''– इसप्रकार वैराग्य आते ही उन उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपाल को जातिस्मरण उत्पन्न हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्वभव

का स्मरण प्रत्यक्ष की तरह होने लगा। उन्हें स्मरण हुआ कि "पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम विदेह में पद्म नामक एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगर का स्वामी राजा कनकरथ था, उसकी रानी का नाम कनकप्रभा था, उन दोनों के मैं अपनी प्रभा से सूर्य को तिरस्कृत करने वाला कनकप्रभ नामक पुत्र हुआ था। एक दिन बगीचे में विद्युत्प्रभा नाम की मेरी स्त्री को साँप ने काट खाया, उसके वियोग से मैं विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता-माता तथा भाइयों के साथ-साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिराज के समीप उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया। वहाँ मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का भलीप्रकार चिन्तवन करता हुआ आयु के अन्त में जयन्त नाम के विमान में अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ। और आयु पूर्ण करके वहाँ से चयकर यहाँ श्रीपाल का पुत्र गुणपाल हुआ हूँ।"

वे इसप्रकार विचारकर ही रहे थे कि इतने में ही स्वर्गलोक से लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना की। इसप्रकार प्रबोध को प्राप्त हुए गुणपाल मोहजाल को नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मों को नष्ट कर सयोगिपद – तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। श्रीपाल की दूसरी रानी सुखावती का पुत्र यशपाल भी इन्हीं तीर्थंकर गुणपाल जिनेन्द्र के पास दीक्षा धारण कर उनके पहले गणधर हुये।

उसी समय चक्रवर्ती सम्राट श्रीपाल ने बड़ी विभूति के साथ आकर गुणपाल तीर्थंकर की पूजा की और गृहस्थ तथा मुनि सम्बन्धी दोनों प्रकार का धर्म सुना। तदन्तर बड़ी विनय के साथ अपने पूर्वभवों का वृत्तांत सुना।

पुण्यात्मा श्रीपाल जन्म, जरा और मृत्यु रोग का नाश करने के लिए बुद्धि स्थिर करके धर्मरूपी अमृत का पान कर विचार करने लगे कि – "**यह चक्रवर्ती का चक्र कुम्हार के चाक समान है, और साम्राज्य कुम्हार की सम्पति के समान है; क्योंकि जिसप्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) चलाकर मिट्टी से घटादि वर्तनों को बनाकर उनसे अपनी आजीविका चलाता है, उसीप्रकार मैं चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) चलाकर मिट्टी में से उत्पन्न हुए रत्नादि से अपनी**

भोगोपभोग की सामग्री एकत्रित करता हूँ। इसलिये इस चक्रवर्ती के साम्राज्य को धिक्कार है।

यह आयुष्य वायु के समान है, भोग मेघ के समान हैं, स्वजनों का संयोग नष्ट होने वाला है, शरीर पापों का आयतन है और विभूतियाँ बिजली के समान चंचल हैं। यह युवावय, मार्ग से भ्रष्ट होने का कारण होने से गूढ़ वन समान है। जो विषयों में प्रीति है वह राग-द्वेष को बढ़ाने वाली है। इन वस्तुओं में से सुख वहाँ तक ही मिलता है, जहाँ तक बुद्धि में विपर्यास होता है और जब सुबुद्धि आती है, तब ऐसा मालूम पड़ता है कि ये सब विषय-कषाय दुख के ही साधन हैं, हमारे आत्मसुख के घात करने वाले होने से छोड़ने योग्य हैं।

जब अभिलाषारूपी जहर के अंकुरों से इस चित्तरूपी वृक्ष की हमेशा वृद्धि होती है, तब संभोग रूपी डाली पर दुःखरूपी फल कैसे नहीं लगेंगे? मैंने इच्छानुसार दीर्घकाल तक सभी प्रकार के भोग भोगे; परन्तु इस भव में तृष्णा को नाश करने वाली तृप्ति मुझे रंचमात्र भी नहीं मिली। यदि अपनी इच्छानुसार समस्त ही पदार्थ एक साथ मिल जाएँ, तो भी उससे कुछ भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि संयोग में आने पर तृप्ति नहीं होती और उन सभी को भोगने की इसकी क्षमता नहीं है। अतः जीव सदा दुःखी ही रहता है। इसलिए अब अपने आत्मा के ही सच्चे सुख को प्राप्त करके मैं शीघ्र ही पुरुष बन सकता हूँ– पुरुषत्व का स्वामी बन सकता हूँ अर्थात् आत्मा को स्वीकार कर पर्याय में भी परमात्मा बन सकता हूँ।

इसप्रकार चक्रवर्ती सम्राट श्रीपाल ने चक्ररत्न सहित समस्त परिग्रहों को एक साथ छोड़ने का निर्णय किया और दीक्षा ग्रहण करके तप द्वारा कर्मों का नाशकर, केवलज्ञान प्रगटकर आयु के अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

– ऐसे तद्भव मोक्षगामी सभी भव्यात्माओं/परमात्माओं को हमारा नमस्कार हो।

प्रश्नोत्तरी सभा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में मंगलावती देश की रत्नसंचयपुर नगरी ! जहाँ के राजा जैनधर्म के उपासक पुण्यवन्त जीव महाराजा क्षेमंकर हैं और वहाँ उच्च शिखरों से सुशोभित जिनमन्दिर हैं।

एकबार रत्नपुरी की राजसभा में क्षेमंकर महाराज अपने पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र सहित विराजमान थे। इतने में उस राजसभा में एक पण्डित आया और पुत्र वज्रायुधकुमार से कहने लगा– हे कुमार ! आप जीवादि पदार्थों का विचार करने में चतुर हैं तथा अनेकान्तरूप जैनमत के अनुयायी हैं; परन्तु वस्तु या तो एकान्त क्षणिक होती है अथवा एकान्त नित्य होती है। **तो फिर यह बताइये कि "जीव सर्वथा क्षणिक है ? या सर्वथा नित्य है ?"**

उत्तर में वज्रायुधकुमार अनेकान्त स्वभाव का आश्रय लेकर अमृत समान मधुर एवं श्रेष्ठ वचनों द्वारा कहने लगे – "हे विद्वान ! मैं जीवादि पदार्थों का स्वरूप पक्षपातरहित कहता हूँ; तुम अपने मन को स्थिर रखकर सुनो। जबतक तुमने अनेकान्तमय जैनधर्म का अमृत नहीं पिया; तभी तक तुम्हारी वाणी में एकान्तवादरूप मिथ्यात्व का विष आता है। अनेकान्त के अमृत का स्वाद लेते ही तुम्हारा मिथ्यात्वरूपी विष उतर जायेगा और तुम्हें तृप्ति होगी।

सुनो ! जिनेन्द्र भगवान के अमृतसमान वचनों में ऐसा कहा है कि जीवादि कोई पदार्थ सर्वथा क्षणिक नहीं हैं और न सर्वथा नित्य हैं; क्योंकि यदि उसे सर्वथा क्षणिक माना जाये तो पुण्य-पाप का फल या बंध-मोक्ष आदि कुछ नहीं हो सकते; पुनर्जन्म नहीं हो सकता, विचारपूर्वक किये जाने वाले कार्य व्यापार-

विवाहादि नहीं हो सकते, ज्ञान-चारित्रादि का अनुष्ठान या तपादि भी निष्फल हो जायेंगे; क्योंकि जीव क्षणिक होगा तो उन सबका फल कौन भोगेगा ? तथा गुरु द्वारा शिष्य को ज्ञानप्राप्ति, पूर्वजन्म के संस्कार भी नहीं रहेंगे और प्रत्यभिज्ञान, जातिस्मरण आदि का भी लोप हो जायेगा। इसलिए जीव को सर्वथा क्षणिकपना नहीं है और यदि जीव को सर्वथा नित्य माना जाये तो बंध-मोक्ष नहीं बन सकेंगे, अज्ञान दूर करके ज्ञान होना सिद्ध नहीं होगा। क्रोधादि की हानि या ज्ञानादि की वृद्धि नहीं हो सकेगी, पुनर्जन्म भी नहीं हो सकेगा; गति का परिवर्तन भी किसप्रकार होगा ? इसलिए जीव सर्वथा नित्य भी नहीं है।

एक ही जीव एक साथ नित्य तथा अनित्य ऐसे अनेक स्वरूप है, आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटता है ; इसे ही अनेकान्त कहते हैं। इसीप्रकार जीवादि तत्त्वों में जो अपने गुण-पर्याय हैं उनसे वह सर्वथा अभिन्न नहीं है; इसलिए बुद्धिमानों को परीक्षापूर्वक अनेकान्त स्वरूप जैनधर्म को स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि वही सत्य है। एकान्त नित्यपना या एकान्त क्षणिकपना वह सत्य नहीं है।''

इसप्रकार वज्रायुधकुमार ने वज्रसमान वचनों द्वारा एकान्तवाद के तर्कों को खण्ड-खण्ड कर दिया। विद्वान पण्डित के वेश में आया हुआ वह देव भी वज्रायुध की विद्वता से मुग्ध हो गया। मन में प्रसन्न होकर अभी विशेष परीक्षा के लिये उसने पूछा कि – हे कुमार ! आपके वचन बुद्धिमत्तापूर्ण तथा विद्वानों को आनन्द देनेवाले हैं। **अब यह समझायें कि – ''क्या जीव कर्मादि का कर्ता है ? या सर्वथा अकर्ता है ?''**

उत्तर में वज्रायुध ने कहा – जीव को घट-पट-शरीर-कर्म आदि परद्रव्य का कर्ता उपचार से कहा जाता है, वास्तव में जीव उनका कर्ता नहीं है। अशुद्धनय से जीव अपने क्रोध-रागादि भावों का कर्ता है; परन्तु वह कर्तापना छोड़ने योग्य है। शुद्धनय से जीव उन क्रोधादि का कर्ता भी नहीं है वह अपने सम्यक्त्वादि शुद्ध चेतन भावों का ही वास्तव में कर्ता है, वह उसका स्वभाव है – इसप्रकार जीव के कर्तापना तथा अकर्तापना समझना।

पण्डित के वेश में आये देव ने फिर पूछा– **"क्या जीव कर्म के फल का भोक्ता है या नहीं ?"**

कुमार वज्रायुध ने उत्तर दिया कि – "अशुद्धनय से जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है, शुद्धनय से वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है; शद्धनय से तो वह अपने स्वाभाविक सुख का ही भोक्ता है।"

उसने फिर पूछा – **जो जीव कर्म करता है, वही उसके फल का भोक्ता है ? या कोई दूसरा ?**

वज्रायुध ने कहा – एक पर्याय में जीव शुभाशुभ कर्म को करता है और दूसरी पर्याय में (दूसरे जन्म में अथवा वर्तमान भव में) उसके फल को भोगता है; इसलिए पर्याय-अपेक्षा से देखने पर जो करता है वही नहीं भोगता और द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर जिस जीव ने कर्म किये हैं, वही जीव उनके फल को भोगता है। एक जीव के सुख-दु:ख को दूसरा नहीं भोगता।

उसने फिर पूछा – **जीव सर्वव्यापी महान है ? या तिल्ली के दाने जितना सूक्ष्म है ?**

वज्रायुध ने कहा – निश्चय से प्रत्येक जीव सदा असंख्यात प्रदेशी है। केवली समुद्घात के समय वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने से सर्वव्यापी हो जाता है, जो मात्र एक समय को ही रहता है। उसके अतिरिक्त समय में छोटा-बड़ा जैसा शरीर हो वैसे आकारवाला होता है। उसका कारण यह है कि दीपक के प्रकाश की भाँति जीव में संकोच-विस्तार होने की शक्ति है; इसलिए वह शरीर के आकार जैसा हो जाता है। मुक्तदशा में विद्यमान शरीररहित जीव भी सर्वथा निराकार नहीं है तथा सर्वव्यापी भी नहीं है; परन्तु लगभग अन्तिम शरीर-प्रमाण चैतन्य आकारवाला होता है।

अन्त में उसकी परीक्षा करने आये देव ने पूछा – **हे कुँवरजी ! यह बतलायें कि क्या जीव स्वयं ज्ञान से जानता है या इन्द्रियों से ?**

वज्रायुधकुमार ने कहा – जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है इसलिए वह स्वयं जानता है; इन्द्रियाँ कहीं जीव स्वरूप नहीं हैं; शरीर और इन्द्रियाँ तो अचेतन-

जड़ हैं; उनसे जीव भिन्न है। अरिहन्त एवं सिद्ध भगवन्त तो इन्द्रियों के बिना ही सबको जानते हैं; स्वानुभवी धर्मात्मा भी इन्द्रियों के अवलम्बन बिना ही आत्मा को अनुभवते हैं। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप भले प्रकार समझाकर अंन्त में वज्रायुध कुमार ने कहा – '**जीव का नित्यपना-क्षणिकपना, बंध-मोक्ष, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सब अनेकान्त-स्याद्वाद नय से ही सिद्ध होता है। एकान्तनय से वह कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता; इसलिये हे भव्य ! तुम अनेकान्तमय जैनधर्मानुसार सम्यक् श्रद्धा करके अपना कल्याण करो !**

इसप्रकार पण्डित वेश में आये हुए उस देव ने जो भी प्रश्न पूछे, उन सबका समाधान वज्रायुधकुमार ने गम्भीरता और दृढ़ता से अनेकान्तानुसार किया। भरत के भावी तीर्थंकर के श्रीमुख से ऐसी सुन्दर धर्म-चर्चा सुनकर विदेह के समस्त सभाजन अति प्रसन्न हुए। उनके अमृत भरे वचन सुनकर तथा उनके तत्त्वार्थश्रद्धान की दृढ़ता देखकर वह मिथ्यादृष्टि देव भी जैनधर्म का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ।

पश्चात् तुरन्त ही उस विचित्रचूल देव ने अपना मूल स्वरूप प्रकट किया और स्वर्ग में इन्द्र द्वारा की गई उनकी प्रशंसा कह सुनाई – "हे प्रभो ! मैंने आपके तत्त्वज्ञान में शंका करके आपकी परीक्षा की। आपके प्रताप से मुझे जैनधर्म की श्रद्धा हुई और मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; इसलिए आपका मुझ पर महान उपकार है। आपका तत्त्वज्ञान-उज्ज्वल है और आप भावी तीर्थंकर हो।" – इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की स्तुति करके महान भक्ति सहित उसने स्वर्ग के वस्त्राभूषण भेंट करके वज्रायुधकुमार का बहुमान किया।

अहा ! जगत में वे धर्मात्मा जीव धन्य हैं, जो कि सम्यक्त्वादि निर्मल रत्नों से विभूषित हैं, इन्द्र भी जिनकी प्रशंसा करते हों और देव आकर जिनकी परीक्षा करते हों तथापि तत्त्वश्रद्धा में जो किंचित् भी चलायमान नहीं होते – ऐसे धर्मात्माओं के सम्यग्दर्शनादि गुण देखकर मुमुक्षु का हृदय उनके प्रति प्रमोद से उल्लसित होता है। भावी तीर्थंकर शान्तिनाथ ऐसे श्री वज्रायुधकुमार का निर्मल तत्त्वज्ञान जिज्ञासु जीवों को अनुकरणीय है।

बाल-सभा

छात्र – गुरुजी आज तो हम आपसे ही कहानी सुनेंगे।

गुरुजी – जरूर ! आज हम आप को एक हाथी की कहानी सुनाते हैं।

छात्र – गुरुजी उस हाथी का नाम क्या है ?

गुरुजी – उस हाथी का नाम है – 'वनकेलि'।

छात्र – हाँ ! गुरुजी सुनाइए।

गुरुजी – पृथ्वीपाल नाम के एक राजा थे, यह वनकेलि नाम का हाथी उन्हीं का था, एक दिन वह हाथी किसी कारण क्षुब्ध होकर अपने बंधनों को तोड़कर उत्पात मचाता हुआ नगर से बाहर निकल गया, उसे पकड़ने की हिम्मत किसी ने नहीं की।

छात्र – फिर क्या हुआ गुरुजी ?

गुरुजी – वह लोगों को मारता, जानवरों को पछाड़ता, चिंघाडता हुआ एक पड़ोसी नगर में घुस गया।

छात्र – फिर तो उसने वहाँ भी बहुत नुकसान किया होगा ?

गुरुजी – हाँ ! वहाँ भी उसने लोगों को मारना शुरू कर दिया; परन्तु वह वहाँ अधिक देर तक उत्पात नहीं मचा सका।

छात्र – तो क्या उसे किसी ने पकड़ लिया ? वह पकड़ने वाला कौन महा-पुरुष था ?

गुरुजी – हाँ ! उसे वहाँ के राजा पद्मनाभ ने पकड़ लिया या यह कहो कि राजा पद्मनाभ को देखकर उस हाथी का क्रोध एकदम शान्त हो गया।

छात्र – फिर क्या हुआ गुरुजी ?

गुरुजी – फिर उस हाथी को लेकर उसके पूर्व के स्वामी राजा पृथ्वीपाल व वर्तमान के स्वामी राजा पद्मनाभ में युद्ध छिड़ गया। युद्ध में राजा पृथ्वीपाल का मरण हो गया और इस कारण राजा पद्मनाभ को भी वैराग्य हो गया। उन्होंने श्रीधर मुनिराज से दीक्षा ले ली।

छात्र – गुरुजी ! फिर उस हाथी का क्या हुआ ?

गुरुजी – उस हाथी को भी यह करुण एवं वैराग्य का प्रसंग देखकर वैराग्य आ गया और वह भी मुनिराज पद्मनाभ के साथ रहकर अपनी आत्मसाधना में लग गया। मुनिराज के दर्शन से तथा धर्मोपदेश से उसकी चेतना जागृत हो उठी,

वह विचारने लगा कि – **'मैं पशु नहीं हूँ, यह क्रोधादि भी मैं नहीं हूँ, मैं तो मुनि भगवन्त के समान शान्त स्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा वेदन करते हुए उसे सम्यग्दर्शन हो गया। सम्यग्दर्शन से अलंकृत होकर वह भी अपने स्वामी के चरणचिह्नों पर मुक्तिमार्ग की ओर चलने लगा। अहा ! जिसे भावी तीर्थंकर की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ हो, उसका कल्याण क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा।**

श्री पद्मनाभ मुनिराज जहाँ-जहाँ विहार करते, वहाँ-वहाँ गजराज वनकेलि भी शिष्य की भाँति उनके साथ जाता; जब मुनिराज ध्यान में लीन होते तब वह उनके समीप चुपचाप बैठकर आत्मचिन्तन करता। मुनिराज के सान्निध्य में रहकर वह अद्भुत वैराग्यमय जीवन बिताता। मुनिराज के दर्शन को आने वाले मुमुक्षु श्रावक उस हाथी की चर्या को देखकर आश्चर्य मुग्ध हो जाते और उनके अन्तर में धर्म की अपार महिमा जागृत होती कि – **"अहा ! यह हाथी भी मुनिराज के उपदेश से जैनधर्म प्राप्त करके ऐसा वैराग्यमय जीवन जीता है, वह तो अपने लिये अनुकरणीय है।"** – इसप्रकार अनेक जीव हाथी को देखकर वैराग्य प्राप्त करते। हाथी जब अपनी सूँढ़ झुकाकर मुनिराज को नमस्कार करता और मुनिराज की दृष्टि उस पर पड़ती, तब हाथ उठाकर वे उसे आशीर्वाद देते और वह हाथी अपने को धन्य मानता।

प्रिय बालको ! यह जानकर आपको बेहद खुशी होगी कि यह मुनिराज पद्मनाभ एक भव बाद चन्द्रप्रभ नाम के आठवें तीर्थंकर होकर मोक्ष पधारे, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

बालसभा

संचालक – आज हमारे स्कूल के इस सत्र की अन्तिम बाल सभा है, "**हम अपनी छुट्टियाँ कैसे बितायेंगे**" इस सम्बन्ध में हमें आज हमारे गुरुजी बताएँगे। जबतक गुरुजी आते हैं, तबतक यदि कोई अपने विचार रखना चाहता हो, तो रख सकता है।

जिनेश– मित्र मैं एक शिक्षाप्रद पौराणिक कहानी सुनाना चाहता हूँ।

संचालक– आईए, माइक पर आईए।

जिनेश– जैनदर्शन के जाने-माने विद्वान पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ 238 पर लिखा है कि 'फल लगता है, **सो परिणामों का लगता है**' मैं आज इसी बात को बताने वाली '**भगवान शान्तिनाथ और उनके गणधर चक्रायुध**' के पूर्व भव की कहानी सुना रहा हूँ। इस कहानी के माध्यम से विवेकी जीव अपने परिणाम सुधार कर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करेंगे – ऐसी मंगल भावना है। जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में ......

(इसी बीच गुरुजी आ जाते हैं।)

संचालक– हमारे माननीय गुरुजी पधार चुके हैं। हम सभी करतल ध्वनि से उनका स्वागत करते हैं। (गुरुजी आकर बैठ जाते हैं।)

जिनेश– अब गुरुजी आ गये हैं, अत: यदि गुरुजी इजाजत दें तो मैं अपनी बात पूरी कर दूँ।

गुरुजी– जरूर, तुम अपनी बात पूरी करो। हमें अच्छे कार्य कभी अधूरे नहीं छोड़ना चाहिए।

जिनेश– जी गुरुजी, हाँ तो मैं कह रहा था कि जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वत्सकावती देश है, जहाँ जैनशासन का धर्मचक्र सदा चलता रहता है। उस देश की प्रभाकरी नगरी में धर्मात्मा स्मितसागर राजा राज्य करते थे। उनके दो पुत्र थे। एक का नाम था अपराजित-बलभद्र और दूसरे का नाम था अनन्तवीर्य-वासुदेव। दोनों में अत्यन्त गाढ़ भ्रातृप्रेम था। स्मितसागर राजा तो वैरागी होकर मुनि बन गए और निदानबंध कर धरणेन्द्र हुए। अपराजित-बलभद्र भी दीक्षा

लेकर मुनि बनें और सोलहवें अच्युत स्वर्ग में देव हुए। तथा अनन्तवीर्य-वासुदेव भोगों में मस्त रहकर मरण कर नरक में गया।

देखो, तो परिणामों का फल ! जीवनभर तथा भव-भवान्तर से साथ रहनेवाले तथा भविष्य में भी तीर्थंकर-गणधर होनेवाले वे भाई पृथक् हो गये – एक स्वर्ग में और दूसरा नरक में।

देखो, परिणामों विचित्रता ! मनुष्य भव के अनुकूल संयोगों में परिणामों की निकृष्टता के कारण नरक में गया और नरक की महान प्रतिकूलता में भी पुन: सम्यक्त्व को धारण कर लिया अर्थात् मोक्षमार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया।

इससे पता चलता है कि संयोगों और निमित्तों से कुछ नहीं होता; हमारे उपादान में जैसा कारण होता है, कार्य भी वैसा ही होता है तथा फल भी वैसा ही मिलता है। उसमें बाह्य संयोग कुछ नहीं कर सकते। अनन्तवीर्य के भव में अनुकूलता होने पर भी भोगों को इकट्ठे करने में और भोगने में दुखी रहा और उसके फल में नरक गया। वहाँ भी बहुत काल तक अत्यन्त दुखी रहा पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त कर नरक में भी सुखी हो गया। कहा भी है–

चिन्मूरत दृगधारी की मोय रीति लगत कछु अटापटी।
बाह्य नारक कृत दुख भोगे अन्तर समरस गटागटी ॥

इससे सिद्धान्त फलित हुआ कि – **सुख-दुख बाह्य संयोगों के आश्रित नहीं होते; स्वभाव-विभाव भावों के आश्रित होते हैं। तथा फल लगता है, सो परिणामों का ही लगता है।**

विवेक – (हाथ ऊँचा करते हुए खड़े होकर) गुरुजी क्या मैं एक प्रश्न पूँछ सकता हूँ ?

गुरुजी – हाँ ! पूछो।

विवेक – नरक में उस जीव को ऐसा कौन-सा कारण बना, जिससे उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया ?

गुरुजी – (जिनेश की ओर इशारा करते हुए) यदि तुम इसका उत्तर देना चाहो, तो दे सकते हो।

जिनेश— जी, स्मितसागर राजा जो निदानबंध कर धरणेन्द्र हुए थे, एकबार उन धरणेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि पूर्वभव का मेरा पुत्र अनन्तवीर्य मरकर नरक में गया है; इसलिए तुरन्त वे धरणेन्द्र उसे प्रतिबोधने के लिये नरक में पहुँचे। धरणेन्द्र को देखते ही नारकी जीवों को आश्चर्य हुआ कि यह कोई प्रभावशाली देव हमें मारने के लिये नहीं, किन्तु शान्ति प्रदान करने आये हैं; ऐसा समझकर वे सब नारकी क्षणभर के लिये एक-दूसरे के साथ लड़ना-झगड़ना छोड़कर धरणेन्द्र की बात सुनने को आतुर हुए।

धरणेन्द्र ने अनन्तवीर्य के जीव को सम्बोधते हुए कहा – "हे भव्य! इससे पूर्व के भव में तू तीन खण्ड का स्वामी वासुदेव था और मैं तेरा पिता था। धर्म को भूलकर विषय-भोगों की तीव्र लालसा के कारण तुझे यह नरक मिला है। अब फिर से अपने आत्मा की सुरक्षा कर और अपने खोये हुए सम्यक्त्व-रत्न को पुनः प्राप्त कर ले! मैं धरणेन्द्र हूँ और तुझे प्रतिबोधने के लिये ही यहाँ आया हूँ।"

अहा! मानों नरक में अमृत पीने को मिला हो!! तदनुसार धरणेन्द्र के वचन सुनकर उस नारकी जीव को महान शान्ति हुई। वह गद्गद होकर हाथ जोड़कर कहने लगा – "हे तात्! आपने इस नरक में भी मुझे धर्मोपदेश रूपी अमृत-पान कराके महान उपकार किया है।"

धरणेन्द्र ने कहा– "अरे! तू मनुष्यभव में त्रिखण्डाधिपति था और भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले महात्मा अपराजित बलदेव तेरे भाई अहर्निश जीवन के साथी थे; उस काल में जो तेरे साथी थे, उनमें से अनेक जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त कर लिया, अनेक जीव स्वर्ग में गये और तू यहाँ नरक में पड़ा है।" यह सुनकर वह विचारने लगा कि – अरे! पुण्यफल को भोगने वाले तो कितने ही जीव मेरे साथी थे; परन्तु अब इस पापफल को भोगने में कोई मेरा सहचर नहीं है; मैं अकेला ही पाप का फल भोग रहा हूँ।

तब धरणेन्द्र ने पुनः सम्बोधित करते हुए कहा– वत्स ऐसा नहीं है कि पुण्यफल भोगने में कोई साथी होता है और पापफल भोगने में नहीं। सबका फल तो जीव को स्वयं ही भोगना पड़ता है। कहा भी है –

स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किए निष्फल होते ॥

x x x

जन्म-मरण एकहि करे, सुख-दुःख वेदे एक।
नरक गमन भी एकला, मोक्ष जाय जीव एक॥

"यहाँ अकेला मेरा आत्मा ही शरण है।" – इसप्रकार एकत्व भावना द्वारा अन्तरंग स्वभाव की गहराई में उतरकर उसने पुनः सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। इतना ही नहीं, उससमय और भी अनेक नारकी जीव शान्ति एवं सम्यक्त्व को प्राप्त हुए और अति उपकार बुद्धि से हाथ जोड़कर धरणेन्द्र को नमस्कार करने लगे। अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ जानकर वे धरणेन्द्र भी अपने स्थान पर चले गये।

देखो तो सही! जीवों के परिणामों की विचित्रता!! त्रिखण्ड का राजवैभव भोगने में अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों साथ थे; तथापि एक तो विशुद्ध परिणाम के कारण स्वर्ग गया और दूसरा संक्लेश परिणाम के कारण नरक गया। नरक में भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। दो भाइयों में से एक असंख्यात वर्षों तक स्वर्ग में और दूसरा असंख्यात वर्षों तक नरक में, तथापि गहरी **अन्तर्दृष्टि से देखें तो दोनों जीव सम्यग्दृष्टि हैं, दोनों चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं और सम्यक्त्व सुख दोनों को समान है। दोनों के संयोगों में तथा औदयिक भाव में महान अन्तर होने पर भी स्वभावदशा की इस समानता को भेदज्ञानी जीव ही जान सकते हैं। उदय और ज्ञान को जो भिन्न देख सकते हैं वे ही ज्ञानियों की अन्तरदशा को पहिचान सकते हैं।**

संचालक– धन्यवाद जिनेश! अब मैं आ. गुरुजी से निवेदन करता हूँ कि वे अपना मार्गदर्शन देने की कृपा करें।

गुरुजी – जिनेश ने बहुत ही मार्मिक एवं शिक्षाप्रद कहानी सुनाई। मैं भी इसी सन्दर्भ में कहना चाहूँगा कि आप सभी अपने अवकाश काल में अन्याय-अनीति-अभक्ष्य से सदा दूर रहें और इस भेदज्ञान की भावना को अपने जीवन में सदा भाते रहें तथा शीघ्र ही मोक्षमार्ग प्रशस्त करें। – यही मेरी भावना है।

संचालक – (आज्ञा से) बोलो, महावीर स्वामी की जय!

ज्ञान-वैराग्य वर्द्धक प्रेरक प्रसंग

ज्ञातव्य है कि अब आगे आने वाले सभी प्रेरक प्रसंग स्व. पण्डित प्रकाशचन्दजी 'हितैषी' दिल्ली के सम्पादकत्व में निकलने वाले मासिक पत्र "सन्मति सन्देश" में से संकलित किये गये हैं। – आभार

सुख-दुःख दोनों (1) में जीव स्वयंभू है

महाराजा जयसिंह जंगल में प्यास से तड़फ उठे, प्यास से उनका कंठ सूखा जा रहा था। कुछ चले ही थे कि कुछ दूर पर एक झोपड़ी दिखाई दी। झोपड़ी के सामने पहुँच कर उस गरीब किसान से राजा ने पानी माँगा। किसान ने राजा को घड़े का ठण्डा पानी पिलाया। पश्चात् दूध और चावल की मीठी खीर खिलाई।

राजा को आज का भोजन पानी बड़ा स्वादिष्ट लगा। राजा ने एक कागज में कुछ लिख कर किसान को देते हुए कहा – जब कभी तुम पर कुछ संकट पड़े तो मेरे पास आना। मैं जयपुर में रहता हूँ। इतना कहकर राजा चला गया। किसान ने वह कागज अपनी स्त्री को दे दिया।

कुछ दिन बाद बड़े जोर से सूखा पड़ा। अनाज के बिना लोग एक-एक दाने को तरसने लगे। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची थी। ऐसे कठिन समय में किसान की स्त्री ने राजा के वचन की याद दिलाई।

किसान कुछ दिन में जयपुर पहुँच कर वहाँ राजभवन में राजा के सामने भी पहुँच गया। राजा उस समय भगवान की पूजा कर रहा था। बहुत देर तक राजा की क्रिया देखकर किसान कहने लगा – राजन् ! बार-बार हाथ इकट्ठा करते और फिर जमीन में सिर पटकते हो, इस बीमारी का कुछ इलाज कराओ।

राजा ने समझाया – 'भाई ! यह बीमारी नहीं, भगवान से प्रार्थना कर रहा था।'

'किसलिये ?' – किसान ने पूछा।

'सुख साधन माँगने के लिये।' – राजा ने कहा।

'तुम भी भिखारी हो, हम तो तुमको राजा समझ रहे थे। अब हम भी भगवान से ही मांग लेंगे। तुमसे क्या मांगें ?'

'भाई ! भगवान ही सबको देता है ?'

'हम मांगेंगे तो दे देगा।' – किसान बोला।

'हाँ भाई किस्मत में होगा तो जरूर देगा।'

'फिर किस्मत देती है या भगवाम ?'

इन प्रश्नों की बौछारों में राजा भी सकपका गया। तब किसान ने सम्बोधित करते हुए कहा–

''इससे पता चलता है कि फल तो सबको अपनी स्वयं की करनी के अनुसार ही मिलता है; क्योंकि यदि भगवान देता होता तो सभी को देता, परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि तो कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता, सब स्वयंभू हैं, सब अपनी-अपनी करनी का ही फल पाते हैं।''

जिसके पास पूँजी है, उसे भी धन कमाना चाहिए और जिसके ऊपर कर्ज है, उसे भी धन कमाना चाहिए। यदि पूँजीवाला व्यक्ति धन कमायेगा तो पूँजी की वृद्धि होगी और ऋणी व्यक्ति धन कमायेगा तो कर्ज का नाश होगा।

इसीप्रकार जो पुण्य के उदय से सुखी है, उसे भी धर्म ही करना योग्य है और जो पाप के उदय से दुःखी है उसे भी धर्म करना योग्य है। सुखी व्यक्ति धर्म करेगा तो सुख बढ़ेगा और दुःखी व्यक्ति धर्म करेगा तो दुःख का नाश होगा।

इसलिए सभी अवस्थाओं में धर्म-साधन ही श्रेष्ठ है – यह तात्पर्य जानना चाहिए।

– आत्मानुशासन पद्य-18 का भावार्थ

कीमत लगाओ मत ⟨2⟩ कीमत समझो !

दक्षिण प्रान्त के एक गाँव में एक जुलाहा रहता था। वह बड़ा ही शांतिप्रिय स्वभाव का था। कड़वा बोलना जैसे उसे आता ही न था। एक दिन एक शरारती धनी लड़के ने उस जुलाहे की परीक्षा लेने की ठानी। लड़के ने प्रण किया कि आज तो जुलाहे को गुस्सा लाकर ही छोड़ूँगा।

वह जुलाहे के पास पहुँचा। लड़के को देखकर जुलाहे ने कहा – बेटा ! क्या चाहिए ? वह बोला – मुझे यह साड़ी चाहिए। इसका क्या लोगे ? जुलाहे ने कहा – दो रुपये।

उस लड़के ने साड़ी हाथ में लेकर उसके दो टुकड़े कर दिये। उसने कहा – मुझे पूरी नहीं आधी साड़ी चाहिए थी। इसका क्या लोगे ? जुलाहे ने शांतिपूर्वक कहा – एक रुपया। उस लड़के ने उस साड़ी के कई टुकड़े कर डाले और फिर बोला – 'ये टुकड़े मेरे किस काम के ? मैं इन्हें नहीं खरीदता।'

बेटे ! ये टुकड़े तुम्हारे क्या किसी काम के नहीं हैं ?' युवक ने शर्मिन्दा होकर कहा – ये लो तुम्हारी पूरी साड़ी के दाम।' पर जुलाहे ने नहीं लिये। बोला – इन टुकड़ों को जोड़ कर काम में ले लूँगा, अब ये तुम्हारे किसी काम के नहीं हैं।

धनी लड़के ने धन के मद में कहा – 'तुम गरीब आदमी हो, किन्तु मेरे पास तो बहुत रुपये हैं। मैंने तुम्हारी चीज खराब की है तो उसका घाटा मुझे पूरा करना ही चाहिए।' जुलाहे ने धीरे से कहा – 'बेटे ! तुम इसका घाटा पूरा कर सकते हो क्या ? तो सुनो ! इसका

घाटा रुपये से पूरा नहीं हो सकता। देखो सैकड़ों किसानों ने कपास पैदा की। मेरी स्त्री ने उसका सूत काता, उसको रंगा, फिर उसकी साड़ी बुनी। इतने लोगों की मेहनत बेकार गई। रुपये से इस मेहनत के घाटे को कैसे पूरा कर सकते हो ?

जुलाहा बड़ी शांतिपूर्वक अपने बेटे की तरह समझा रहा था। यह सुन कर लड़के की आँखें भर आईं। वह जुलाहे के पैरों पर गिरकर क्षमा याचना करने लगा।

जुलाहे ने उसे उठाते हुए कहा – 'बेटा ! **अगर मैं दो रुपये का लालच करता तो तुम्हारी जिन्दगी का वही हाल होता, जो इस साड़ी का हुआ। वह जिन्दगी किसी के काम न आती। एक साड़ी खराब हुई तो दूसरी तैयार हो जायेगी, लेकिन जिन्दगी बिगड़ जाती तो दूसरी कहाँ से लाते ?**

यह जुलाहा आगे चल कर दक्षिण भारत का विख्यात सन्त तिरुवल्लुवर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने कुरल काव्य की रचना कर विश्व को अमूल्य निधि प्रदान की है।

3 अभयकुमार की निश्चल दृढ़श्रद्धा

राजा श्रेणिक का नाम जग प्रसिद्ध है, उनके पुत्र अभयकुमार एक सम्यग्दृष्टी सद्गृहस्थ थे। वे वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहित वीतरागी गुरु एवं वीतरागता का कथन करनवाली जिनवाणी और सद्धर्म के सिवाय किसी अन्य देवादि को स्वप्न में भी नमस्कार नहीं करता थे। उनकी इस अटल श्रद्धा की सौधर्म इन्द्र ने भी अपनी सभा में बड़ी प्रशंसा की। इस प्रशंसा को सुनकर अपनी विक्रिया के घमण्ड में आकर एक देव ने कहा –

'इन्द्रराज यदि आज्ञा हो तो मैं अभी जाकर अभयकुमार को श्रद्धा से विचलित कर सकता हूँ। इन भूमिगोचरी गृहस्थों की क्या श्रद्धा ? ये तो थोड़े से ही संकट में डगमगा जाते हैं।

इन्द्र ने कहा – 'अभयकुमार की श्रद्धा कोई छुईमुई का पेड़ नहीं, जो उंगली से मुरझा जाय।'

उसी समय देव ने राजगृही में विक्रिया से नागदेव का मन्दिर बनाया और नगर में प्रसिद्धि कर दी कि नगर के बाहर एक नागदेव का मन्दिर अपने आप प्रगट हुआ है। वहाँ जाकर जो उनकी भक्तिभाव से पूजा करता है, उसकी मनोकामना परी हो जाती है। – यह समाचार सुनकर सारी राजगृह नगरी उसके दर्शन करने टूट पड़ी। अभयकुमार को भी समाचार मिला, किन्तु वे क्यों आने लगे ? मन्त्री वगैरेह ने बहुत समझाया किन्तु अभयकुमार टस से मस नहीं हुए।

कुछ समय बाद क्या देखते हैं कि पूरे राजभवन और राजसभा में सर्प ही सर्प भाग दौड़ कर रहे हैं। यह उपद्रव देखकर सब ने मिलकर अभयकुमार को बहुत समझाया, किन्तु उन्होंने कहा – मेरा मस्तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर और किसी के आगे नहीं झुक सकता है। **यदि इन्होंने काट लिया तो एक बार ही मरण होगा और वह मरण का समय भी निश्चित है, जब होना है तभी होगा। अत: इनसे डर कर क्या मैं किसी कुदेव की पूजा करने लगूँ ? यह कदापि नहीं हो सकता।** इतने में राजकुमार और रानी को सर्प ने डस लिया, किन्तु अभयकुमार ने मस्तक नहीं झुकाया।

अभयकुमार की अपूर्व दृढ़ता को देखकर देव ने अपना असली रूप प्रगट कर क्षमायाचना की और राजकुमार व रानी की मूर्छा भी समाप्त हो गई।

चक्रवर्ती का भी... 4 ...अभिमान गल गया !

समस्त भरत खण्ड की दिग्विजय करते हुए चक्रवर्ती भरत वृषभाचल (वृषभ कूट) पर्वत पर पहुँचे। स्फटिक से उज्ज्वल श्वेत प्रस्तरों के गगनचुम्बी ऊँचे शिखर और उन पर पड़ते हुए सूर्य किरणों के प्रतिबिम्ब की विचित्र चमक और मोहक आभा थी। छह खण्ड की दिग्विजय और चक्रवर्तित्व के गर्व स दीप्त भरत की आँखें वृषभाचल की स्फटिक सी श्वेत आभा में अपने निर्मल यश का प्रतिबिम्ब झलकता हुआ देख रही थीं। वे सोच रहे थे मैं पहला चक्रवर्ती हूँ, जिसका नाम यहाँ सबसे ऊपर लिखा जायेगा।

चक्रवर्ती पर्वत के श्वेत शिलापट्ट पर अपना नाम अंकित करना चाहते थे। इसके लिए कांकिणी रत्न लेकर ज्योंही उद्यत हुए तो सर्वत्र शिलापट्टों पर हजारों हजार चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे हुए देख कर चकित से रह गये।

'क्या इस पृथ्वी पर मेरे जैसे और भी असंख्य चक्रवर्ती राजा हो गये हैं ? इस पर्वत का खण्ड-खण्ड उनकी प्रशस्तियों से भरा हुआ है ? इसमें तो एक नाम लिखने की भी जगह नहीं है .... !' सम्राट चक्रवर्ती भरत का अहंकार गल गया। विस्मित से देखते रहे,

अपना नाम लिखने के लिए उन्हें एक पंक्ति बराबर भी जगह खाली नहीं मिली। बहुत देर सोचने के बाद चक्रवर्ती ने किसी चक्रवर्ती के नाम की प्रशस्ति को अपने वज्रोपम हाथों से मिटाया और वहाँ पर अपनी प्रशस्ति लिखी 'मैं इक्ष्वाकु वंशरूपी गगन का चन्द्र, विश्वविजेता, चारों दिशाओं की पृथ्वी का स्वामी, अपनी माता के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ, भगवान ऋषभदेव का

बड़ा पुत्र चक्रवर्ती भरत हूँ। मैंने समस्त विद्याधरों, देवताओं और राजाओं को विनत किया है, पृथ्वी मण्डल की परिक्रमा करके दिग्विजय प्राप्त की है।'

भरत ने अपनी यश:प्रशस्ति लिखकर ज्योंही उसे दुबारा देखा, तो उनके हृदय में एक उलझा हुआ प्रश्न समाधान पाने को उठ खड़ा हुआ। 'मैंने आज एक चक्रवर्ती के नाम को मिटाकर अपना नाम लिखा है, तो क्या इसीप्रकार भविष्य का कोई चक्रवर्ती मेरा नाम भी मिटा कर अपना नाम नहीं लिखेगा ? इस महाकाल के प्रवाह में कौन अजर, अमर, अविनाशी रहा है ? यह जगत क्षणभंगुर है, चलाचल है, सिद्ध भगवान ही अचल हैं।

..धन्य हैं जे जीव नरभव (5) पाय यह कारज किया !

एक धनवान सेठ के पुत्र की किसी निर्धन पड़ौसी के लड़के के साथ घनिष्ट मित्रता हो गई। दोनों मित्र प्रतिदिन एक-दूसरे से मिलते थे और आपस में बहुत स्नेह रखते थे।

निर्धन का पुत्र यद्यपि सेठ के लड़के के पास नित्यप्रति आता रहता था, परन्तु उसके मन में कुछ संकोच अवश्य बना रहता था। सेठ पुत्र इस स्थिति को समझ गया।

एक दिन उसने अपने मित्र से कुछ लोहा मँगवाया, जिससे वह अपने घर में रखी पारसमणि से उसका सोना बना सके और मित्र की निर्धनता दूर कर सके।

उसका मित्र लोहा ले आया तो उसने पिताजी से पारसमणि माँग कर लोहे को छुआ दिया, परन्तु लोहा वैसा का वैसा लोहा ही बना रहा, सोना नहीं बना। सेठ पुत्र को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा पारसमणि बेकार हो गई, अत: वह पिताजी के पास गया और सब बात सुनाई।

सेठजी ने पुत्र से सब वृत्तान्त सुनकर कहा – 'बेटा ! इस लोहे पर तो जंग कीट आदि लगा हुआ है। इसलिए पहले इसे दूर करो, तभी लोहे का स्वर्ण बन सकता है।

अब की बार लड़के ने वैसा ही किया तो लोहा स्वर्णरूप में परिवर्तित हो गया।

बस इसी तरह जबतक आत्मा से मिथ्यात्व (उल्टी मान्यता) की जंग नहीं छूटेगी, तबतक आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। यदि मिथ्यात्व नहीं छूटा और धन-परिवार तथा शरीर भी छोड़ दिया तो संसार का दुःख नहीं छूट सकता। यदि मिथ्यात्व छूट गया तो और सब अपने आप छूट जायेगा।

चमत्कार भक्ति का या (6) आयु कर्म के उदय का

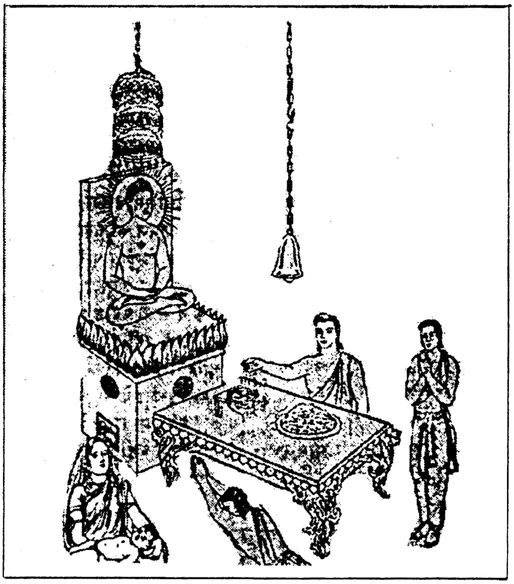

कविवर धनंजय सेठ संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित एवं सिद्धान्त मर्मज्ञ और श्रेष्ठ कवि थे। जिनेन्द्र भक्ति से तो आपका हृदय ओत-प्रोत रहता था। आप जिनेन्द्र भक्ति इतनी तन्मय होकर करते थे कि उस समय आपको बाह्य जगत की सुध-बुध नहीं रहती थी।

एक दिन जिनेन्द्र पूजा में आप तल्लीन थे, उसी समय उनके घर पर उनके बच्चे को सर्प ने डस लिया। बच्चा मुँह से झाग छोड़ने लगा। सेठानी ने अनेक इलाज कराये, किन्तु उससे कुछ लाभ नहीं हुआ। तब जिनमन्दिर में सेठ जी

को खबर दी गई, किन्तु सेठ धनंजय पूजा में इतने तल्लीन थे कि उन्होंने इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया।

यह देखकर पक पड़ौसन ने सेठानी के ऊपर रंग रख दिया कि आपके भगतजी सेठ सांहब ऐसे चिन्ता करनेवाले नहीं हैं। बच्चे को ले जाकर उन्हीं के सामने रख आओ। तब बच्चे की हालत देखकर अपने आप चिन्ता करेंगे। सेठानी तो पहले ही चिन्ता से विह्वल हो रही थी। यह सुन कर सेठानी ने बच्चे को उठाया और मन्दिर में ले जाकर पूजा करते हुए सेठजी के सन्मुख रख दिया और जोर-जोर से रोने-चिल्लाने लगी।

सेठ धनंजय ने पूजा पूर्ण करने के बाद समझाया – सेठानीजी ! इतनी चिन्ता क्यों करती हो ? यदि बच्चे की आयु शेष है तो कोई उसे छीन नहीं सकता, यदि आयु समाप्त हो गई तो कोई बचा नहीं सकता। किन्तु सेठानी के ऊपर इन शब्दों का कुछ भी असर नहीं हुआ। वह उसी तरह रोती-चिल्लाती रही। बालक पड़ा-पड़ा मुँह से झाग छोड़ रहा था। सेठजी पूजन के बाद स्तुति में दत्तचित्त हो गये। उन्होंने एक स्तोत्र की रचना की और उसे भक्ति भाव से पढ़ने लगे, ताकि पुत्र वियोग की संभावना जनित दुःख कुछ कम होकर परिणाम निर्मल रह सकें। परन्तु यहाँ तो कुछ और ही हो गया, बालक के आयुकर्म के उदय से और सेठजी के पुण्य-उदय से सहज ही बालक का सर्प-विष अपने आप उतर गया और धर्मप्रभावना हुई। आज भी वह स्तोत्र विषापहार के नाम से प्रसिद्ध है।

मात्र शास्त्रज्ञान नहीं (7) आत्मज्ञान चाहिए !

'शिवभूति ! तुझे तो कुछ भी नहीं आता और न एक शब्द का भी स्मरण रहता है, मैं क्या उपदेश दूँ।'

'गुरुदेव ! मुझ दीन अनाथ पर दया कर सरल भाषा में धर्म का सार समझा दीजिए, मैं अनपढ़ बुद्धिहीन आपके शास्त्रों की गहराई को बिल्कुल भी नहीं समझता।'

मुनिराज ने दया करके उसे समझाया – भाई ! तू इस मंत्र के रट ले और

जीवन में उतार ले, तेरा कल्याण हो जायेगा। मंत्र है – **'मा तुष मा रुष'** (राग मत कर, द्वेष मत कर)

शिवभूति मुनि इसी मंत्र को रटते हुए स्वभाव को समझकर राग-द्वेष को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। किंतु ज्ञान का उघाड़ कम होने से वह मंत्र भी भूल गये। उनके गुरु भी विहार कर चुके थे। शिवभूति अपने मंत्र को स्मृति में लाने का बहुत प्रयत्न करते, किन्तु उन्हें अपने मंत्र का स्मरण नहीं आ रहा था।

एक दिन शिवभूति मुनिराज कहीं जा रहे थे। तब एक नगर में कोई महिला उड़द की दाल धो रही थी। तब उन्होंने पूछा – बहिन तुम क्या कर रही हो ? तुष (छिलका) और माष (दाल) भिन्न-भिन्न कर रही हूँ। तुष-माष का शब्द सुनते ही उन्हें उस मंत्र के भाव का स्मरण हो उठा – ओहो ! यह शरीरादि तुष के समान है और आत्मा माष (दाल) के समान है। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

इसप्रकार द्रव्यश्रुत (शास्त्र) का ज्ञान बिल्कुल न होने पर भी आत्मस्वरूप का अनुभव कर स्वभाव में लीन हो गये और कर्मों का नाश कर शिव की विभूति (सिद्ध परमात्मा) बन गये। भावों की शुद्धि ही धर्म का मार्ग है। मोक्ष मार्ग में मात्र शास्त्रज्ञान कार्यकारी नहीं, बल्कि भावज्ञान कार्यकारी है।

अब तक बासा खाया (8) अब तो ताजा खाओ !

हम जी नहीं रहे हैं मात्र जीने की औपचारिकता पूर्ण कर रहे हैं। साँसों का लेना ही क्या जीना है ? ऐसे तो मरे चमड़े की धौकनी भी साँसें लिया करती है। हमारी सासों में लिप्सा, अभीप्सा और चाह की भी इतनी ही गरमाहट है, जितनी अग्नि से निकलती धौकनी की हवा और ईंधन गैसों में होती है। हमारी उच्छवासों में भी कारखानों की चिमनियों के काले धुँआ का रूप दिख रहा है; क्योंकि ये सासें अन्तस को छूती हुई नहीं निकल रहीं, उन आत्म-प्रदेशों से होती हुई नहीं आ रहीं, जिनमें धर्मप्राण भरा हो। वह जीवन ही क्या, जिसमें धर्म का जन्म ही न हुआ हो।

एक विचारक ने कहा है – 'चेतना का पैदा हो जाना व्यक्ति का जन्म है और व्यक्ति का पैदा होना ही जीवन का प्रारम्भ है।' इसका सद्भाव ही आत्म-जागरण की दिशा, धर्म की दिशा है और यह तत्त्व ही मनुष्य में धर्म को जन्म देकर उसके जीवन का निर्माण करता है।

इस सन्दर्भ में एक प्राचीन घटना उल्लेखनीय है, जो इसप्रकार है –

अभयनन्दि मुनि का धनराज सेठ के यहाँ सानन्द आहार हुआ। आहार के बाद मुनिराज चौकी पर बैठ गये। सेठ की पुत्रवधु ने हाथ जोड़कर महाराज से सविनय प्रश्न किया – 'इतने सबेरे कैसे ?' मुनिराज ने विद्वत्तापूर्ण प्रश्न के भाव को समझ कर उत्तर दिया – 'समय की खबर नहीं।'

फिर मुनिराज ने पूछा – 'बेटी ! तेरी आयु कितनी है ?' उत्तर मिला – 'तीन वर्ष।' 'तेरे पति की आयु कितनी है ?' 'कुल एक वर्ष' फिर मुनिराज ने पूछा – 'तेरी सास की आयु कितनी है ?' उसने उत्तर दिया –'छः माह।' इसके बाद मुनिराज ने फिर प्रश्न किया – 'बेटी ! और तेरे ससुर की आयु क्या है ?' उत्तर मिला – 'वे तो अभी पैदा ही नहीं हुए।' 'बेटी ! ये सब ताजा खा रहे हैं या बासा ?' उत्तर मिला – 'अभी तक तो बासा खा रहे हैं।' इतनी चर्चा के बाद मुनिराज अभयनन्दि जंगल की ओर चले गये।

यहाँ धनराज सेठ अपनी पुत्रवधु के विचित्र उत्तर सुनकर तथा उनसे अपना अपमान समझ कर पुत्रवधु से बोला – 'अरी मूर्खा ! तूने तो मुनिराज के समक्ष मेरे पूरे परिवार की नाक काट दी। तूने आज पागलपन में इस परिवार का अपमान करने के लिए सारे उत्तर मूर्खपन के दिये हैं, इसलिए तू इसी समय मेरे घर से निकल जा।'

पुत्रवधु ने कहा – 'पिताजी ! मैंने सारी बातें सच और सन्मान सूचक कही हैं। आपको विश्वास न हो तो मुनिराज से पूछकर ही निर्णय कर लीजिये।' तब सेठ ने मुनिराज के पास जाकर इन सब गूढ़ बातों का मतलब पूछा।

'मुनिराज ने कहा – 'सेठजी ! तुम्हारी पुत्रवधु तो बड़ी विदुषी है। उसने पूछा था – 'महाराज सबेरे-सबेरे कैसे ?' अर्थात् आपने इस छोटी-सी उम्र

में मुनिव्रत क्यों ले लिया ? जिसका उत्तर मैंने दिया था कि 'समय की खबर नहीं' अर्थात् समय का भरोसा नहीं है। मुनिराज ने आगे कहा कि जन्म जीवन का प्रारम्भ नहीं बल्कि धर्म को जीवन में जन्म देना जीवन का प्रारम्भ है। तुम्हारी पुत्रवधु ने 3 वर्ष से, तुम्हारे पुत्र ने 1 वर्ष से ही धर्म पहचाना और धारण किया है, इसलिए इनके जीवन केवल 3 और 1 वर्ष के हैं। तुम्हारी पत्नि के जीवन में छह माह से ही धर्म आया है, इसलिए उसकी आयु छह माह की है। जबकि तुम्हारे जीवन में धर्म ने अभी जन्म ही नहीं लिया तो तुम पैदा हुए कैसे कहला सकते हो ?

बस ! सेठजी को जीवन का रहस्य मिल गया और साथ ही पुत्रवधु के प्रश्नों के उत्तरों का सही समाधान। इसलिए यदि जीवन की उम्र बढ़ानी है तो धर्म को आत्मसात करना होगा। जीवन के उन मूल्यों से परिचय प्राप्त करना होगा, जो वस्तुतः मनुष्य को ऊपर उठाते हैं।

जरा सोचो ! (9) सच्चा मित्र कौन ?

एक आदमी के तीन मित्र थे। उनमें से पहले दो के प्रति उसे बहुत आदर था, अत: उनसे वह बहुत अधिक प्रेम करता था। तीसरे के प्रति उसने ध्यान नहीं दिया और न कभी उस तीसरे मित्र की चिन्ता की।

एक बार उस आदमी पर बहुत कठिन प्रसंग आ पड़ा। उसे इस बात का निश्चय हो गया कि उसे न्यायालय में खड़ा होना पड़ेगा और उसका अनादर होगा। वह अपने पहले मित्र के पास गया और उससे अपनी सहायता करने तथा न्यायालय में चलने के लिए प्रार्थना की, लेकिन उस मित्र ने उसे साफ ठुकरा दिया। वह बोला, न्यायालय की तो बात बहुत दूर रही, मैं तुम्हारे साथ एक कदम भी नहीं चलूँगा।

तब वह दूसरे मित्र के यहाँ गया और उससे भी वही प्रार्थना की। दूसरा मित्र बोला – मैं यह मानता हूँ कि तुम संकट में हो, किन्तु मैं तुम्हारे साथ केवल न्यायालय की सीमा तक जाऊँगा पर उसके भीतर जाना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। क्षमा करो। इसप्रकार इस मित्र से भी कोई लाभ नहीं हुआ।

अन्त में वह उस तीसरे मित्र के पास भी गया, जिसकी ओर उसने आज तक कभी ध्यान नहीं दिया था। उस मित्र ने उसके साथ न्यायालय में चलना स्वीकार किया। इतना ही नहीं, अपितु उसने न्यायाधीश के सामने उसकी ओर से अत्यन्त प्रभावपूर्ण रूप से पैरवी की और उसे दोषमुक्त करवाया। तब उसे उस मित्र के प्रति उपेक्षा करने पर पश्चात्ताप हुआ।

उस आदमी के ये तीन मित्र थे – सम्पत्ति (पहला मित्र), सम्बन्धी (दूसरा मित्र) एवं सत्धर्म (तीसरा मित्र)। मनुष्य जब मरणासन्न हो जाता है, तब सम्पत्ति एक कदम भी उसके साथ नहीं जा सकती। उसके सम्बन्धी लोग श्मशान तक उसका साथ देते हैं। उससे आगे वे उसके साथ नहीं जा सकते। परन्तु उसके द्वारा किया हुआ सद्धर्म अन्त तक उसका साथ देता है और न्यायासन के सामने उसकी पैरवी करके उसे दोषमुक्त कराता है, **किन्तु मनुष्य जिसप्रकार सम्पत्ति तथा सम्बन्धियों की ओर ध्यान देता है, उसप्रकार सद्धर्म की ओर ध्यान नहीं देता**। अत: हमें इस बात पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और सच्चे मित्रस्वरूप सत्यधर्म करने में अपने मनुष्यभव का अमूल्य समय लगाना चाहिए।

कभी विचार किया (10) मोह किससे करना ?

एक गरीब आदमी खेती-किसानी करके अपना पेट भरता था। भाग्य से वह कुछ दिनों में धनी बन गया। परिवार भी बहुत बड़ा हो गया था। सब बच्चे अपनी-अपनी दुकानों पर और खेती पर काम करने लग गये थे। सब प्रकार की अनुकूलता थी।

एक दिन एक मुनिराज ने उस वृद्ध किसान से कहा – 'भाई ! घर में सब अनुकूलता है अब तो साधना के पथ पर चलकर आत्मकल्याण कर लो।'

वृद्ध किसान बोला – 'मुनिवर ! घर की ओर देखभाल करनेवाला कोई नहीं है, यदि घर छोड़ दूँ तो घर लुट जायेगा। बच्चों की शादी करना है। अभी बहुत काम पड़े हैं। सब बाराबाट हो जायेगा।' मुनिराज यह सुनकर चले गये।

कुछ दिन में वह वृद्ध मरकर कुत्ता हुआ और उसी दरवाजे पर बैठकर पहरा देता रहता। कोई अनजान आदमी आ जाता तो भौंक-भौंक कर उसको दूर भगा आता। रात-रात जागकर रंखवाली करता। एक दिन फिर वही मुनिराज आये और कहने लगे – 'भाई ! अब तो इस दशा में आकर कुछ अपने लिए कर लो।' कुत्ते ने अपनी वाणी में कहा – 'मैं घर छोड़ दूँ तो मेरे घर की रखवाली कौन करेगा ? आपके साथ फिर कभी चलूँगा।'

एक दिन वह कुत्ता मरकर बैल हो गया। अब वह गेहूँ आदि बोझा ढ़ोकर खूब मेहनत करता था। दूना बोझा लादा जाता, किन्तु वह बूढ़ा होकर और मार खाकर भी काम करता रहता।

एक दिन वही मुनिराज फिर उस बैल को देखकर बोले – 'भाई ! तुम अब तो मेरी बात मान लो। चलो मेरे साथ कुछ आत्मकल्याण करो। बैल अपनी बोली में कहने लगा – 'अभी खेतों में गल्ला पड़ा है, उसे कौन ढ़ोयेगा ?' मुनिराज यह सुनकर चले गये। वह बूढ़ा बैल मरकर उसी घर में साँप बन गया। अब भी वह तिजोड़ी पर बैठा रहता। घर के लोग उसे देखकर डर जाते। एक दिन वह अपने पूर्व लड़के के पैर में लिपट गया। यह देखकर लोगों ने उसे डण्डे से मार-मारकर अधमरा कर दिया। कुछ सांस चल रही थी।

वही मुनिराज फिर आये और कहा – 'भाई ! अब तो संभल जा। जंगल में चलकर परमात्मा का ध्यान कर। इतना सुनकर उस सर्प ने अपने प्राण छोड़ दिये और आर्त्तध्यान से मरकर नरक चला गया। ●

सर्वस्व दान (11) सर्वस्व समर्पण

एक पुराना मन्दिर था। दरारें पड़ी थी। खूब जोर से वर्षा हुई और हवा चली। मन्दिर का बहुत बड़ा भाग लड़खड़ाकर गिर पड़ा। उस दिन एक विद्वान वर्षा में उस मन्दिर में आकर ठहरे थे। भाग्य से वे जहाँ बैठे थे, उधर का कोना बच गया। विद्वान को चोट नहीं लगी।

विद्वान ने सबेरे पास के बाजार में जाकर चन्दा करना प्रारम्भ किया। उन्होंने सोचा 'मेरे रहते भगवान का मन्दिर गिरा है तो इसे बनवाकर ही मुझे कहीं जाना चाहिये।'

बाजार वालों में श्रद्धा थी। उन्होंने राजा से लेकर गरीब तक घर-घर जाकर चन्दा एकत्र किया। मन्दिर बन गया। भगवान की मूर्ति भारी उत्सव के साथ विराजमान हुई। सहभोज हुआ, सबने आनन्द से भोजन किया।

सहभोज के दिन शाम को राजा की उपस्थिति में सभा हुई। विद्वान दातारों को धन्यवाद देने के लिये खड़े हुए। उनके हाथ में एक कागज था। उसमें लम्बी सूची थी। उन्होंने कहा – सबसे बड़ा दान एक बुढ़िया माता ने दिया है। वे स्वयं आकर दे गयी थीं।'

लोगों ने साचा कि अवश्य किसी बुढ़िया ने सौ दौ सौ रुपये दिये होंगे। कई लोगो नें सौ रुपये दिये थे। लेकिन सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब विद्वान ने कहा – 'उन्होंने मुझे चार आने पैसे और थोड़ा सा आटा दिया है।' लोगों ने समझा ये हँसी कर रहे हैं।

विद्वान ने आगे कहा – 'वे लोगों के घर आटा पीसकर काम चलाती हैं। ये पैसे कई महिने में एकत्र कर पायी थीं। यही उनकी सारी पूंजी थी।'

विद्वान ने आगे कहा – '**सर्वस्व दान करने वाली उन श्रद्धालु माता को मैं प्रणाम करता हूँ।**' लोगों ने मस्तक झुका लिये। सचमुच बुढ़िया का मनसे दिया हुआ यह सर्वदान ही सबसे बड़ा और महान था।

वस ठीक **इसीप्रकार जबतक यह आत्मा अपने उपयोग को बाहर से समेट कर अपने में पूरी तरह समर्पित नहीं करता, तबतक उसे सम्यग्दर्शन होना असम्भव है। भले ही उसे कितने ही शास्त्रों का ज्ञान क्यों न हो जावे, भले ही वह घर छोड़कर त्यागी क्यों न हो जावे; परन्तु जबतक वह किंचित् भी उपयोग पर में जोड़कर रखेगा अर्थात् श्रद्धा में पर से अपना हित मानेगा, तबतक धर्म प्रगट होने वाला नहीं है।** ●

मुझे बिल्कुल... (12) समय नहीं मिलता

एक दिन एक धर्मप्रेमी मित्र ने लक्ष्मीपुत्र सेठ धनदासजी से कहा – सेठ साहब ! आप और तो सब कुछ करते रहते हैं, किन्तु जिससे करने का मार्ग मिलता है, जिससे जीवन को दिशा मिलती है, जिससे जीवन के सच्चे स्वरूप का पता चलता है, तथा जिससे आत्मा में सच्ची सुख शांति के दर्शन हो सकते हैं, उस आत्महितकारी सच्चे मित्रवत् स्वाध्याय को आप नहीं करते हैं। चौबीस घण्टे में कभी भी सुविधानुसार एक घण्टे का समय निकालकर स्वाध्याय अवश्य किया करें। यह सुनकर सेठ साहब ने अपने ऊपर संकट-सा आता हुआ अनुभव कर अपने बचाव के लिए हमेशा का अभ्यस्त-सा उत्तर दिया –

"मित्र ! तुम तो जानते ही हो कि अब इतना काम बढ़ गया है कि मुझे एक मिनिट की/मरने-जीने की भी फुरसत नहीं। सुबह से लेकर शाम तक तथा शाम से लेकर आधी रात तक काम ही काम रहता है। पढ़ने की किसे फुरसत है ?

मित्र ने कहा – सेठ साहब ! मरने की फुरसत तो उसी समय मिल जाती

है, जब मौत आती है। उसे दुनिया की कोई शक्ति नहीं रोक सकती। बड़े-बड़े योद्धा और तीर्थंकर भी उस समय को एक मिनिट आगे पीछे नहीं कर सके। हाँ यह कहिये तो अवश्य ठीक है कि आप को जीने की फुरसत नहीं है। आप जो दिन रात यन्त्र की तरह हाय हाय में लगे रहते हैं, भला ये भी कोई जीवन है ? भिखारी तो फिर भी शाम को जो मांग कर लाता है, वह सुख चैन से बैठ कर खा लेता है; किन्तु आपको तो शांति से बैठकर खाने की भी फुरसत नहीं। हाँ कोई सरकारी पचड़ा पड़ जाये, विवाह शादी आ जाये, मित्र लोगों की टोली आ जाये तो घंटों का समय गप-शप में व्यर्थ व्यतीत हो जायेगा, किन्तु अपनी आत्मा की सच्ची सुख शान्ति के विषय में सोचने के लिये चौबीस घण्टे में एक घण्टे का भी समय नहीं निकाल सकते।

यह सब सुनकर सेठ साहब को झुंझलाहट आ गई, वे किंचित् रोषभाव में आकर बोल उठे – अजी तुमने भी कहाँ की टाँय-टाँय लगा रखी है। अजी इन सब कार्यों के लिये तो बुढ़ापे का समय पड़ा है, उसी समय धर्म कर्म किये जाते हैं, अभी तो हमारे कमाने-खाने के दिन हैं, सो कमा खा लेने दो। धर्म-कर्म-स्वाध्याय-मनन ये सब तो बुढ़ापे में देखे जायेंगे।

मित्र ने कहा – सेठ साहब किसके पास बुढ़ापे का प्रमाण पत्र है कि बुढ़ापा आयेगा ही ? क्या पता अभी थोड़ी देर में ही क्या हो जाय ? दूसरे बुढ़ापे में तो तृष्णा और बढ़ जाती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। संस्कार कुछ रहता नहीं है। इससे उस समय तो और महान अशांति रहती है। सेठ साहब

मैं यह चाहता हूँ कि आपको वास्तविक शान्ति प्राप्त हो और वह तत्त्वनिर्णय से मिलती है, तत्त्वनिर्णय स्वाध्याय से होता है। अत: किसी तरह भी स्वाध्याय का समय अवश्य निकालना चाहिये। यह सम्पत्ति तो भाग्य से ही आती-जाती है, आप सोचते हैं "मैं कमा रहा हूँ" पर यह मिथ्या अभिमान व्यर्थ है। इस परद्रव्य को कौन कमा सकता है ? देखिये – एक घुड़सवार घोड़े को पानी पिलाने रहट पर लाया और पानी पिलाने लगा, किन्तु रहट की चर्र-चर्र आवाज से घोड़ा झिझका, तब सवार ने रहट बंद करने को कहा तो पानी आना बन्द हो गया। तब सवार ने कहा पानी क्यो बंद कर दिया, तो उसने कहा – यह चर्र-चर्र और पानी एक साथ आवेंगे। इसीप्रकार गृहस्थी एवं गृहस्थी की झंझटों के रहते हुए धर्म करना होगा।

क्या हम दिवा ... 13 स्वप्न नहीं देख रहे हैं ?

विश्व एक रंगमंच है, जहाँ पर हम सभी प्राणी स्वयं पात्र बनकर अभिनय कर रहे हैं और विश्व का अभिनय देख भी रहे हैं। उसमें मन को सुहावने लगनेवाले अभिनयों को इष्ट मान बैठते हैं, तथा मन के अरोचक दृश्यों में अनिष्ट बुद्धि कर बैठते हैं। यदि मात्र दर्शक ही बने रहते तो हमारी कुछ भी हानि नहीं थी, किन्तु हम तो उन सभी दृश्यों के विधाता बनकर अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं, जिसे नितांत असम्भव कार्य करने की अनधिकार चेष्टा ही कह सकते हैं।

हम अपने को ही नहीं बदल पाते, किन्तु विश्व को बदलना चाहते हैं। यदि कभी काकतालीय न्याय से वे दृश्य अनुकूल से लगने लगते हैं, तो उसमें हम सुख के स्वप्न देखते हैं, जबकि वे क्षणभंगुर हैं।

साहित्य, सौन्दर्य और कलाप्रेमी राजाभोज रत्नजड़ित स्वर्णपर्यंक पर विश्राम करते हुए निद्रा-भंग होने से कुछ ऐसे ही दिवास्वप्न देख रहे थे –

अपने भौतिक वैभव की विशालता और अनुकूलता पर हर्षातिरेक में एक श्लोक की रचना करने लगे – **'चेतोहरा: युवतय: सहृदोऽनुकूला:'**

मेरे पास चित्त को चुराने वाली देवांगना जैसी रमणीय रमणियाँ हैं। इससे बड़ा सुख क्या हो सकता है ? इसी कल्पना में करवट बदलते हुए उसका दूसरा चरण बनाया –

'सद्बांधवा: प्रणयपूर्ण विनम्रभृत्या:'

मेरे पास प्यारे-प्यारे बन्धु-बांधव, पुत्र, मित्र और परम आज्ञाकारी मन्त्री, सेनापति एवं अनेक अन्य सेवकों की भीड़ कभी रंचमात्र दुःख का अनुभव नहीं होने देती। मेरे राजसी वैभव के कितने ठाठ हैं ? आगे बोले –

'बल्गन्ति दन्तिनिवहा तरलास्तुरंगा।'

चिंघाड़ते हुए पर्वत जैसे विशाल हाथी, पवनवेग से भी तीव्रगामी बलिष्ठ, चंचल घोड़े आदि सुन्दर स्वर्गीय वैभव को मेरे समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

जिन्होंने इन भौतिक पदार्थों में सुख माना है, वे इसी प्रकार कल्पना के किले बनाते ही रहेंगे। तब श्लोक के चौथे चरण की पूर्ति के प्रयास में सोच रहे थे कि अब कौन सा वैभव मेरे पास शेष है, जिसका वर्णन इस श्लोक के चौथे चरण में किया जावे। तभी चोरी करने आया हुआ एक संस्कृतज्ञ चोर उनके पलंग के नीचे छुपा हुआ बोल उठा –

'सम्मीलने नयनयो नहिं किञ्चिदस्ति।'

हे राजन् ! यह वैभव का ठाठ आँख बन्द होने पर तुम्हारे साथ कुछ भी नहीं जाने वाला है। सब यहीं पड़ा रह जायेगा। धर्म और विवेक के बिना यह सब वैभव आकुलता और तृष्णा की अग्नि में झुलसाता रहता है, यह सब दिवा स्वप्न हैं।

यह सुनते ही कल्पना लोक में विचरण करनेवाले राजाभोज एक झटके के साथ यथार्थ की धरणी पर आ गिरे। उस चोर का उन्होंने बहुत-बहुत आभार माना और आत्म-जागरण के स्वर्णिम प्रभात में मोहनिद्रा के भंग होने से अब वे कुछ वास्तविक शान्ति का अनुभव करने लगे।

समदृष्टि (14) सहजता

कई शताब्दि पूर्व दिल्ली सम्राट के प्रधानमंत्री का नाम जिनविजय था। वह बड़ा विद्वान, कुशल शासक एवं तत्त्ववेत्ता था। शासन का भार जिनविजय पर ही था। इसलिये राजा, प्रजा सबको वह प्रिय था। उन्हें सब राजा जिनविजय कहते थे। वह वैभव सम्पन्न होकर भी बड़ा धर्मात्मा एवं विरागप्रिय था। वह बड़े मनोहारी आध्यात्मिक पद बनाया करता था, जिससे उसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई थी।

एक ज्ञानघन नामक तत्त्वज्ञानी इनकी कविताओं से बहुत प्रभावित हुआ। ज्ञानघन इनसे मिलने दिल्ली आया। उसने हरएक से जिनविजय का पता पूछा, किन्तु किसी ने नहीं बताया। अन्त में एक शास्त्रसभा में जिनविजय के बनाये पद गाये जा रहे थे। ज्ञानघन ने वहीं पहुँच कर पूछा – भाईयो ! जिनका बनाया हुआ यह पद है, आप उनका पता बता सकते हो ? उत्तर मिला – 'वह राजा जिनविजय हैं, वे दिल्ली सम्राट के प्रधानमंत्री हैं, किले में उनका महल है।'

ज्ञानघन को विश्वास नहीं हुआ कि इतना विशद विद्वान प्रधानमंत्री हो सकता है। वह सीधा राजा जिनविजय के पास पहुँचा। चर्चा करने के बाद ज्ञानघन ने कहा – मंत्रीजी ! आप इतने ज्ञानी होते हुए इस पचड़े में कैसे फंस गये ? इस दलदल से निकलकर मेरे साथ चलो। जिनविजय ने कहा – "पुण्य की सजा भोग रहा हूँ।" इतना कहते ही उठकर जिनविजय उसके साथ चल दिये। ये दोनों कई दिनों के भूखे-प्यासे एक गाँव में पहुँचे।

तब ज्ञानघन ने कहा – मैं इस गाँव से भोजन लाता हूँ। तबतक आप इसी वृक्ष के नीचे बैठिये। वह एक वृक्ष के नीचे सो गया।

वहाँ नेपाल का राजा कार्यवश प्रधानमंत्री जिनविजय से मिलने दिल्ली आ रहा था। नेपाल नरेश भी उसी वृक्ष के नीचे ठहर गया। राजा ने मंत्रीजी को पहचान लिया और बड़े आदर के साथ सुन्दर बिस्तर पर सुला दिया। इतने में ज्ञानघन भोजन लेकर वापस आ गया। वह जिनविजय को न देखकर सोचने लगा प्रधानमंत्री भूख से घबड़ाकर चले गये हैं। उसने नेपाल नरेश से उनके विषय में पूछताछ की तो राजा ने बताया कि मंत्रीजी पलंग पर आराम कर रहे हैं। ज्ञानघन ने जिनविजय को जगा कर पूछा – यह सब क्या हुआ ? मंत्रीजी ने कहा – "पुण्य की सजा भोग रहा हूँ।" ज्ञानघन सब कुछ समझ गया।

सेठ की दर्शन प्रतिज्ञा (15) सेठ की दर्शन प्रतिज्ञा

किसी गांव में एक सेठजी रहते थे। वे अपने धंधे और दुकानदारी में इतने फंसे रहते थे कि कभी न तो मंदिर जाते, न कभी भगवान के दर्शन करते। एक दिन एक मुनि महाराज उस गाँव में पधारे। सबकी देखा-देखी इन सेठजी ने भी मुनि महाराज को अपने घर विधिपूर्वक आहार कराया। मुनि महाराज का नियम था कि वे जिसके यहाँ आहार लेने जाते, उसे किसी न किसी तरह की प्रतिज्ञा अवश्य करा लेते। मुनि महाराज ने दर्शन करने की प्रतिज्ञा लेने को कहा। सेठ बगलें झाँकने लगा, तब सेठजी के मन की बात मुनि महाराज समझ गये। सेठजी से मुनिराज ने कहा – 'अच्छा तुम्हारी दुकान के सामने जो रहता है, प्रातः सबसे पहले उसी के दर्शन करो, बाद में और कोई काम करो।

सेठजी की दुकान के सामने कुम्हार रहता था। सेठजी इसी को सबेरे सबसे पहले देखते और तब अपनी दुकान खोलते।

एक दिन कुम्हार सबेरा होने से पहले ही मिट्टी लाने गाँव के बाहर चला गया। सेठजी ने जब कुम्हार को घर पर नहीं देखा तो मुनिराज की बात याद आ गई। कुम्हारिन से पूछकर सेठजी वहीं पहुँचे जहाँ कुम्हार मिट्टी को खोद रहा

था। सेठजी ने देखा कि कुम्हार तो मिट्टी खोदते-खोदते मोहरें गिन रहा है।

सेठजी को देखते ही कुम्हार को डर लगा कि अब ये मोहरें मुझे न मिल सकेंगी। सेठजी जाकर राजा से कह देंगे और सारी मोहरें छीन ली जाएँगी ऐसा विचार कर उसने सेठजी से कहा – 'आधी मोहरे आप ले लीजिये। मि... खोदते-खोदते मिली हैं। इनमें आपका भी तो हक है।'

मोहरें लेकर सेठजी प्रसन्न हुए और घर आकर सोचने लगे कि मुनिराज ने सच कहा था। एक कुम्हार के दर्शन करने की प्रतिज्ञा के फल में मुझे आज इतनी मोहरें मिल गई। यदि मैं भगवान के दर्शन करने की प्रतिज्ञा कर लेता तो इससे कई गुना लाभ होता। ऐसा विचार करते-करते सेठजी का हृदय भगवान के दर्शनों के लिए उतावला हो उठा। इसके बाद प्रतिदिन नियम से सेठजी जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने लगे। फल यह हुआ कि सेठजी अब तो एक बड़े ही धर्मात्मा ज्ञानी बन गये, वे प्रतिदिन षट् आवश्यक का विधिवत् पालन करने लगे।

यहाँ यह विचार करने योग्य बात है कि उन सेठजी ने एक छोटी सी प्रतिज्ञा लेकर उसका पूरी तरह निर्वाह किया और उसके निर्वाह करने में मुनिराज की बात मानने का परिणाम मुख्य था, उनके चित्त में मुनिराज के प्रति श्रद्धा थी कि वे निस्वार्थी वीतरागी हैं, उनका मुझे इस प्रतिज्ञा के देने में कोई स्वार्थ तो है नहीं, मात्र मुझे सत्मार्ग पर लगाने का भाव है। इसप्रकार उसके चित्त में मुनिराज एवं उनके द्वारा दी प्रतिज्ञा के प्रति बहुमान था; क्योंकि यदि उसके चित्त में मुनिराज द्वारा दी हुई प्रतिज्ञा के प्रति बहुमान नहीं होता तो वह उस दिन कुम्हार को देखने जंगल तक नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि उसके भाव मुनिराज द्वारा दी हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करने में पूरी तरह समर्पित थे, मात्र

क्रिया पर नहीं। चूँकि फल भावों का लगता है, अत: उसे इन निर्मल भावों का फल तत्काल ही मिला तथा आगे चलकर उसे धर्म की सत्य श्रद्धा हुई और धर्म मार्ग पर लग गया। इसीप्रकार हमें अपने प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में भावों को निर्मल, निश्छल और पवित्र बनाये रखना चाहिए। तभी हमारा वह अनुष्ठान कार्यकारी होकर उत्तम फलदायक होगा।

किसकी जिनेन्द्र (16) भक्ति श्रेष्ठ है ?

वन्दनीय कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है – "जो अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह आत्मा को जानकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।" – इस सन्दर्भ में सम्यग्दृष्टी इन्द्र और शची इन्द्राणी की आदर्श भक्ति का प्रमाण देखिये – जो जिनेन्द्र सम अपनी शक्ति पहिचान कर अन्तर्मुख हो अगले भव में मोक्ष जायेंगे।

एक दिन एक भवावतारी सौधर्म इन्द्र और शची इन्द्राणी अपने रत्नखचित दिव्य सिंहासन पर विराजमान थे। इन्द्र के सन्माननीय सामानिक देव तथा सभासद पारिषदगण यथास्थान अपने-अपने सिंहासन पर आसीन थे। इन्द्र के पीछे दिव्यास्त्रों से सुशोभित आत्मरक्षकदेव खड़ा था। चारों ओर असाधारण अनुपमेय स्वर्गीय सुख की आभा छिटक रही थी।

बहुज्ञानी इन्द्र की सभा में जिनेन्द्र भक्ति की चर्चा चल रह थी। प्रसंगवश शची ने इन्द्र से कहा – स्वामिन् ! आपका जीवन तो कृतकृत्य हो चुका। आप ही सर्व प्रथम बालक तीर्थंकर प्रभु का 1008 स्वर्ण कलशों द्वारा क्षीरसागर के जल से पाण्डुक शिला पर महाभिषेक करते हैं। आप ही आश्चर्यकारी भावपूर्ण तांडव नृत्य करते हैं, आप ही सर्वप्रथम 1008 नामों से भगवान की

स्तुति करते हैं। इसी से आप अगले भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे ही। आपका जीवन धन्य है।

इन्द्र ने मुस्कुराते हुए कहा – महादेवी ! क्या आपकी जिनेन्द्रभक्ति कम है ? आप तो मुझसे भी एक कदम आगे बढ़ी हुई है। मैं तो तीर्थंकर प्रभु का बाद में अभिषेक करता हूँ, पर सर्वप्रथम तो आप ही प्रसूतिगृह में जाकर बाल तीर्थंकर के दर्शन कर उन्हें नमस्कार करती हैं। यह सौभाग्य तो आपको ही प्राप्त है, मुझे नहीं। इन्द्र के वचन सुनकर शची नतमस्तक हो गई।

इन्द्र ने कहा – महादेवी ! मेरी आयु दो सागर से कुछ अधिक है और आपकी आयु मात्र पल्यों की है। इसलिये आप तो मुझसे भी पूर्व ही मुक्ति प्राप्त कर लेंगी। तब 'णमो सिद्धाणं' के रूप में आपको मैं नमस्कार करूँगा। अब आप ही बतायें कि किसकी जिनेन्द्र भक्ति श्रेष्ठ है ? और किसकी पर्याय सर्वोत्तम कृत्कृत्य हुई ? तथा किसका जीवन धन्य हुआ ? इन्द्राणी नतमस्तक हो सुन रही थी कि इस चर्चा से स्वर्ग का वातावरण हर्षविभोर हो उठा। जिनेन्द्र भगवान की जय-जयकार से आकाश गूँज उठा। उपस्थित देव समुदाय ने इन्द्र और शची की जिनेन्द्रभक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

तिरने की कला (17) सबसे बड़ी कला

अनेक विद्याओं के विशेषज्ञ प्रोफेसर साहब गंगा नदी पार करने के लिये नाव में बैठ गये। नाव में बैठे हुए उन्होंने नाविक से पूछा – क्यों मल्लाह भाई !

तुमको ज्योतिष विद्या आती है क्या ?

नाविक बोला – बाबूजी, मुझे कुछ नहीं आता। मैं तो मूर्ख आदमी हूँ।

प्रो. साहब ने कहा – तेरी जिन्दगी पानी में ही चली गई।

अच्छा भाई, गणित तो तुझे आता होगा।

नाविक ने कहा – मैंने कहा न बाबूजी, मुझे कुछ नहीं आता।

अरे भाई, हिन्दी की किताब तो पढ़ लेता होगा ?

बाबूजी मैं एक अक्षर भी नहीं पढ़ पाता हूँ। मैं तो अनपढ़ आदमी हूँ।

प्रो. साहब ने कहा – तेरी जिन्दगी तो बेकार पानी ही पानी में चली गई।

इस तरह नाव बढ़ती हुई जा रही थी कि अनायास तूफानी हवा चलने लगी, जिससे नाव डगमगा उठी।

नाविक ने कहा – बाबूजी आपको तैरना आता है ?

प्रो. साहब ने कहा – भाई ! मुझे तैरना नहीं आता।

नाविक कहने लगा – बाबूजी, आपकी सारी विद्याएँ यहाँ कुछ काम नहीं आयेंगी। "अब आपकी जिन्दगी जरूर पानी में चली जायेगी।" – इतना कहकर नाविक ने पानी में छलांग लगा दी और तैरकर किनारे लग गया।

प्रो. साहब नदी में डूबकर प्राणों से हाथ धो बैठे।

इसीप्रकार जो भले ही अनेक शास्त्रों का ज्ञाता हो, किन्तु यदि उसे दु:खों से पार लगानेवाली अध्यात्म की विद्या नहीं आती है तो सम्पूर्ण शास्त्रज्ञान चर्तुगति के दु:खों से नहीं बचा सकता है। कहा भी है –

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशान्ति का मूल है, वीतराग-विज्ञान॥

क्योंकि दुनियादारी के ज्ञान से अपना प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। प्रत्येक प्राणी का प्रयोजन सुख प्राप्त करना है। सुख जड़ पदार्थों के पास है ही नहीं और जिन अरहंत सिद्ध भगवान को शाश्वत सुख-प्राप्त है, वे अपना सुख हमें दे नहीं सकते हैं। उन्होंने तो मार्ग बता दिया है, जो उस पर चलता है, वह शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर लेता है।

वह सुखगुण आत्मा में है, अत: जो सम्यग्ज्ञान की ज्योति जलाकर आत्मा में उसकी खोज करता है, उसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिए धर्ममार्ग में आत्मज्ञान की बड़ी महिमा है। वह आत्मज्ञान अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन मनन और अवगाहन से प्राप्त होता है। कहा भी है –

द्वादशांग का सार है, निश्चय आतमज्ञान।
आतम के जाने बिना, होगा नहीं कल्याण॥

जाग सके तो जाग (18) जाग सके तो जाग

राजा सत्यंधर विजया रानी को पाकर सभी राज्यकाज मंत्री काष्ठांगार को सौंपकर दिन-रात वासनाओं में मग्न रहने लगे। एक दिन अवसर पाकर मंत्री ने राजा सत्यंधर को समाप्त करने की योजना बना डाली। राजा को पता चलने पर उन्होंने गर्भवती विजया रानी को मयूरयंत्र (एक प्रकार का निश्चित अवधि तक हवा में उड़ने वाला वाहन) में बिठाकर उड़ा दिया। राजा के बहुत संघर्ष करने के बाद भी धोखे से मंत्री ने राजा को मार दिया।

इधर वह मयूरयंत्र एक श्मशान में जाकर गिरा, जहाँ पर विजय रानी ने पुत्र जीवंधरकुमार को जन्म दिया। बालक के पालन-पोषण के लिए साधनविहीन असहाय विजया रानी बालक को वहीं पर छोड़कर पास में छिपकर बालक के भाग्य की परीक्षा करने लगी। इतने में सेठ गंधोत्कट अपने मृत बालक का अंतिम संस्कार करने श्मशान में आया था। वहाँ उसने इस सुन्दर सुडौल भाग्यशाली बालक जीवंधर को पाकर उसका यथाविधि पालन-पोषण किया।

बालक के बड़े होने पर गंधोत्कट ने गुरु आर्यनंदी के पास उसे पढ़ने के लिए भेज दिया। जीवंधरकुमार जब पढ़कर पूरी तरह निष्णात हो गए, तब एक दिन गुरु आर्यनंदी ने अपने शिष्य जीवंधरकुमार से कहा – बेटे ! जिस राज्य में तुम नगण्य प्रजा बनकर भटक रहे हो, वह राज्य तुम्हारा ही है। तुम इस राज्य के अधिपति राजा हो। तुम्हारे राज्य पर मंत्री काष्ठांगार ने अन्यायपूर्वक तुम्हारे पिता को मारकर अधिकार कर रखा है। नौकर मालिक बना हुआ है और मालिक तुच्छ प्राणी।

यह सुनते ही जीवंधरकुमार का क्षत्रियत्व जाग उठा। वे काष्ठांगार पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गये। यह देखकर गुरु आर्यनंदी ने कहा – शिष्य ! अब तुम शास्त्र एवं शस्त्र दोनों ही विद्याओं में निपुण हो चुके हो, तब क्या मुझे गुर दक्षिणा नहीं दोगे ?

कुमार ने कहा – गुरुदेव ! आपके चरणों में सर्वस्व समर्पित है। बोलिये, आपको गुरुदक्षिणा में क्या दूँ ? गुरु ने कहा – बेटे ! तुम एक वर्ष तक आक्रमण नहीं करोगे, मुझे यही गुरुदक्षिणा चाहिए। एक वर्ष तक तैयारी करो, उसके पश्चात् ही आक्रमण करना। जीवंधरकुमार ने सहर्ष गुरु आज्ञा स्वीकार की और पूरी तैयारी करके एक वर्ष बाद चढ़ाई कर अपना राज्य प्राप्त कर लिया।

इसीप्रकार यह संसारी प्राणी अपने ध्रुव स्वभावी परमात्मा को भूलकर और प्राप्त पर्याय को ही अपना सर्वस्व मानकर इस संसार में भटकता हुआ दु:ख भोगता रहता है। जब आचार्यदेव इसको सम्बोधित कर कहते हैं कि "हे भव्य प्राणी ! तू पर्याय को गौणकर अपने द्रव्यस्वभाव को देख, अरे भव्यात्मा तुझे मात्र इस पर्याय को गौण करना है, इसका अभाव नहीं करना है। इसीप्रकार अपने द्रव्यस्वभाव को मुख्य करना है, उसे नवीन उत्पन्न नहीं करना है। तू तो स्वभाव से वर्तमान में ही अचिंत्य शक्तिशाली देव है, तू चैतन्य चिंतामणि रत्न है, तू ज्ञान और सुख का भंडार है, बाहर क्यों भटक रहा है? तू देव ही नहीं देवाधिदेव परमात्मा है। द्रव्यस्वभाव से देखने पर सिद्ध जैसा त्रिकाल शुद्ध आत्मा भीतर विराजमान है, जिसे कारणपरमात्मा कहते हैं। ऐसा सुनकर जो जागृत हो उठता है, वही अनंत सुखी कार्यपरमात्मा बन जाता है।"

द्रव्यदृष्टि की क्षमा (19) सम्यग्दृष्टि की क्षमा

कवि रत्नाकर गृहस्थ होते हुए भी अत्यन्त शान्त थे एवं शिथिलाचार और रूढियों के विरोधी थे। वे निरन्तर अपनी धर्म एवं साहित्य की साधना में तल्लीन रहते थे। दया, दान, जिनेन्द्र भक्ति, सन्तोषादि उनके विशेष गुण थे। इसीलिए उनकी सर्वत्र अच्छी प्रतिष्ठा एवं प्रतिभा की छाप अंकित थी।

कुछ लोग स्वभावत: ही असहिष्णु एवं विघ्न सन्तोषी होते हैं। उनको दूसरों की कीर्ति उन्नति नहीं सुहाती है। वे अपनी जलन और ईर्ष्या के कारण गुणी जनों का पराभव करके उनके ऊपर कीचड़ उछालने में आनन्द मानते हैं। ऐसे ही कुछ धर्म द्रोही लोगों ने कवि की पगड़ी उछालना चाही।

कुछ लोग अपने निर्धारित कुत्सित विचार के अनुसार कवि के पास आकर कहने लगे – "कल तो आप वेश्या के यहाँ नाच-गाने में बैठे शराब पी रहे थे, आज यहाँ शास्त्र पढ़ने का पाखण्ड रच रहे हो।"

दूसरा बोला – कल दिन को अड्डे पर जुआ खेल रहे थे। आज यहाँ धर्मात्मा बनने का ढोंग रच रहे हैं।

तीसरा बोला – इसका बाप भी शराबी, जुआरी था।

चौथा कहने लगा – इसकी माँ तो पक्की वेश्या थी और आज कविजी बड़े धर्मात्मा की पूंछ बन रहे हैं।

इतना सब कुछ कहने के बाद भी जब कवि कुछ भी नहीं बोले तो वे लोग स्वाध्याय की किताब छीनकर जाने लगे, तब कवि ने कहा –

भैया, एक बात मेरी भी सुन लो – आपकी गुस्से में कितनी शक्ति क्षीण हो गई होगी, थोड़ा-सा ठंडा पानी पीकर और भोजन करके जाना। **आप लोग ठीक ही तो कह रहे हैं। किसी भव में ऐसा सब कुछ तो हुआ होगा। यह तो आप जानते ही हैं कि ये सब खोटे काम दुर्गति के कारण हैं। इस जीव ने अनन्त बार ऐसा किया तभी तो संसार में पंचपरावर्तन कर दुःख पा रहा है।** इतना सुनते ही उन चारों पर घड़ों पानी पड़ गया। वे लोग कवि के पैर पकड़कर क्षमा याचना करने लगे और बोले – यह क्षमा आपने कहाँ से सीखी है ?

कवि न समझाया – भाई, हमारी आत्मा तो क्षमा का/शान्ति का अखण्ड भण्डार है। **हम जब पर्याय पर दृष्टि डालते हैं तो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, और जब द्रव्यस्वभाव को देखते हैं तो अखण्ड शक्ति सम्पन्न भगवान आत्मा ही दिखाई देता है, जो सब प्राणियों में विराजमान है।** उस स्वभाव को भूलकर क्षणवर्ती पर्याय को अपना मानकर जीव पामर और दुःखी है। किन्तु यह राग-द्वेष विकार और संसार स्वभाव में नहीं है; क्योंकि स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता और विभाव का सदा सद्भाव नहीं रहता है। वे लोग कवि से इतने प्रभावित हुए कि उनके परमभक्त और सच्चे जैन धर्मानुयायी बन गये। धन्य है यह द्रव्यदृष्टि/सम्यग्दृष्टि की क्षमा। •

क्षमा वीरस्य भूषणम् (20) क्षमा वीरस्य भूषणम्

सम्राट उदयन ने चण्डप्रद्योत को बन्दी बना लिया, किन्तु पर्यूषण पर्व निकट आ जाने से उसने चण्डप्रद्योत से क्षमायाचना की।

चण्डप्रद्योत की आँखें आग उगलने लगीं – 'क्षमा ! मैं और क्षमा ! कभी नहीं। यह ढोंग है। सम्राट एक बन्दी राजा से क्षमा माँगे। यह और कौनसी नई चाल है उदयन ! अब क्या शेष है मेरे पास ? जिसे हथियाने के लिए यह स्वाँग रचा है ? कहाँ राजमहलों में सुख की नींद, कहाँ यह लोहे का पिंजड़ा ? ओफ, श्रृंखलाओं में बाँधकर भी तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ? हट जाओ मेरे सामने से। जले पर नमक छिड़कने आए हो ?'

मैं सचमुच क्षमा माँगने आया हूँ प्रद्योत ! यह कोई चाल नहीं है ! चण्डप्रद्योत मैं तुम्ही से क्षमा माँगने आया हूँ। मैंने आज क्षमावाणी पर्व मनाया है। आज मैं सम्राट नहीं, केवल मानव हूँ, मानव ! मैंने प्राणीमात्र से क्षमा माँगी है प्रद्योत ! तुम भी मुझे क्षमा कर दो !'

'आह ! क्षमावाणी की भी यह विडम्बना ! उदयन ! जाओ अपने मित्र राजाओं से क्षमा माँगो ! अपने से बड़े राजाओं से क्षमा माँगो ! मेरी क्षमा से तुम्हारा क्या होने वाला है ?'

'नहीं प्रद्योत, ऐसा न कहो ! उदयन हाथ जोड़ता है। क्षमा कर दो मुझे। तुम्हारे बिना मेरी क्षमावाणी अधूरी रह जाएगी।' उदयन गिड़गिड़ाने लगा।

'तो सुनो सम्राट, क्षमा तब होती है, जब दोनों के मन से वैर विरोध निकल जाए। क्षमा तब होती है जब एक-दूसरे के मन स्वच्छ जल की तरह निर्मल हो जाएँ। क्षमा तब होती है जब दोनों आपस में गले मिले। मैं श्रृंखलाओं में जकड़ा रहूँ और आप सिर पर सम्राट का मुकुट बाँधे रहें, क्या ऐसे में क्षमा सम्भव है ? क्षमावाणी मनाना है तो प्रद्योत सम्राट से सम्राट की तरह ही मिलेगा।'

सम्राट उदयन ने सैनिक को बँधन खोलने हेतु आदेश दिया।

उदयन की आज्ञा पाते ही प्रद्योत के बन्धन खोल दिए गए। उसका राज्य वापस मिल जाने की घोषणा कर दी गई।

अपार जन-समुदाय के बीच लोगों ने देखा कि दो सम्राट गले मिल रहे हैं। बहुत काल से बिछुड़े हुए भाईयों की तरह। उनकी आँखें डबडबा आईं, वे क्षमावाणी जो मना रहे थे।

सजा उसी को दो (21) जो दोषी/अपराधी हो

षौडश वर्षीय सर्वांग सुन्दरी युवती को देखकर एक समझदार पुरुष उसपर मोहित हो गया। थोड़ी ही देर के पश्चात् उसे अपनी इस गलती पर पश्चाताप हुआ। वह सोचने लगा – मैं कितना मूर्ख हूँ, जो एक परस्त्री पर ही मोहित हो गया, जबकि दुनियाँ की सभी महिलाएँ मेरी माँ-बहिन-बेटी के बराबर हैं। यह मुझसे अक्षम्य अपराध बन गया है। अत: जितना यह भयंकर अपराध है, इसका प्रायश्चित्त भी उतना ही कठोर होना चाहिए। उसने एक सूआ उठाकर अपनी दोनों आँखें फोड़ ली। उसने सोचा – "न रहेगा बाँस और न बजेगी बांसुरी।"

थोड़ी देर पश्चात् उनके एक विद्वान मित्र आये और उन्होंने अपने मित्र की यह दयनीय दुर्दशा देखकर पूछा – मित्र यह दुर्घटना कैसे घटित हुई ? मुझे इसका बड़ा दु:ख है। सूरदासजी ने निश्चल होकर घटना का सब विवरण सुना दिया।

सूरदासजी के मित्र कहने लगे – बन्धु, यह तो आपने उससे भी बड़ा अपराध कर डाला है। दोष मन का था और सजा आँखों को दे डाली। आपने बड़ा भारी अक्षम्य अपराध किया है। आपको सजा देनी थी तो मन को देते, तन को न मारते। आँखों का तो देखने का काम है, वे तो देखेंगी ही, किन्तु यदि मन में विकार न आवे तो देखने में क्या दोष है ? सर्वज्ञ तो सब कुछ देखते-जानते हैं। तो क्या वे दोषी हैं, अपराधी हैं ? जानना-देखना तो आत्मा का स्वभाव है। **देखने-जानने से कभी कर्मबंध नहीं होता, कर्मबंध तो राग-द्वेष-मोह से होता है। वस्तु को देखकर या जानकर जब उन पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है, तभी पदार्थों के प्रति राग-द्वेष होता है।**

यदि आँख न होंने से विकार उत्पन्न न होता तो जन्मांध व्यक्तियों और जिनके आँख नहीं है ऐसे एकेन्द्रियादि जीव के विकार उत्पन्न नहीं होना चाहिए। फिर वे साधु कहलायेंगे, किन्तु उनके भी विकार उत्पन्न होता है। विकार की उत्पत्ति मन से होती है। इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का ज्ञान ही होता है। विकार की ओर यह मन ही प्रेरित करता है। आँखें फोड़ लेने के पश्चात् भी विकार उत्पन्न हो सकता है। आत्मबल का ज्ञान होने पर ही मन वश में हो सकता है। अतः मन को वश में करने के लिए आत्मशक्ति को बढ़ाना चाहिए, आत्मबल बढ़ने पर ही मन वश में हो सकता है। विकार को रोकने का एक मात्र यही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वह धर्मशाला नहीं (22) तो और क्या है ?

महाराज विक्रमादित्य के पास अटूट वैभव था। उनके राजभवन से तो इन्द्रासन भी ईर्षा करता था। उसकी भव्यता को देखकर प्रत्येक मनुष्य मुग्ध हो ही जाता था। महाराज को भी अपने वैभव का बड़ा गौरव था।

एक बार एक विवेकी निरीह विद्वान उस राजभवन में आकर ठहर गया। राज सेवकों ने विद्वान को बहुत कहा – पण्डितजी ! यह कोई यात्रियों के ठहरने की धर्मशाला नहीं है, जहाँ आकर आपने डेरा डाल दिया है। यह तो राजभवन

है। इतने में कहीं से महाराज विक्रमादित्य भी वहीं आ पहुँचे। सब हाल जानकर उन्होंने भी उस विद्वान को समझाया, किन्तु जब वह नहीं माना तो राजा ने क्रोध से लाल होते हुए कहा – निकाल दो इसको यहाँ से।

विद्वान बोला – 'भाई ! क्यों अप्रसन्न होते हो ? यह तो धर्मशाला है। तुम भी इसमें ठहरो, मैं भी ठहरता हूँ !'

राजा – 'यह मेरा राजभवन है, धर्मशाला नहीं; समझे ! धर्मशाला तो यहाँ से कुछ दूर है।'

विद्वान – आप कितने हजार वर्षों से इसमें रहते हैं ?'

राजा – 'क्या पागलपन की बात करते हो ? मुझे तो अभी जन्म लिए पचास वर्ष भी नहीं हुए।'

विद्वान – 'आपसे पहले इसमें कौन रहता था ?'

राजा – 'मेरे पूज्य पिताजी !'

विद्वान – 'तो अब वे कहाँ चले गये और कब लौटेंगे ?'

राजा – 'उनका तो स्वर्गवास हो गया, वे अब कभी नहीं लौटेंगे।'

विद्वान – 'तो फिर आप इसमें कब तक रहेंगे ?'

राजा – 'जबतक जीवन शेष है। अंत में तो सभी को जाना पड़ता है।'

– यह सुनकर विद्वान हँस कर बोला – 'तो भले आदमी ! जहाँ मनुष्य आकर कुछ समय ठहर कर चला जाए, वह धर्मशाला नहीं तो और क्या है ?'

स्व को जानो (23) उसमें सब है।

महाराज सहस्रबाहु का राजकुमार चन्द्रकेतु गुरुकुल में पढ़कर अनेक विद्याओं में पूर्ण निष्णात हो गया। जब वह अध्ययन करके लौटा तो उसे अपनी विद्या का बड़ा अहंकार हो गया।

राजा ने यह देखकर राजकुमार से पूछा – बेटा ! तुम्हें अपनी विद्या का बड़ा अहंकार है, किन्तु तुम्हें उस वस्तु का ज्ञान है, जिसके जान लेने पर सम्पूर्ण विश्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ?

चन्द्रकेतु ने कहा – मैं तो ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रखता। ऐसा ज्ञान हो भी कैसे सकता है ?

राजा ने कहा –

बेटा ! ऐसा ज्ञान सब मनुष्यों को तो हो ही सकता है, किन्तु पशुओं को भी हो सकता है।

यह सुनकर चन्द्रकेतु ने कहा – यदि ऐसा है तो सचमुच मेरा ज्ञान नगण्य है। तब तो मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। आप ही मुझे उस तत्त्व का उपदेश दीजिए। इतना कहकर वह चरणों में गिर पड़ा।

राजा ने कहा – बेटा ! वह तत्त्व हमारे तुम्हारे सबके पास है। उसको समझने के लिये किसी शारीरिक परिश्रम और दौड़धूप की आवश्यकता नहीं है। **वह अपना ज्ञानज्योति आत्मतत्त्व है। जिसके जान लेने पर अन्य किसी को जानने की इच्छा नहीं रहती। फिर भी उसके ज्ञान से सबकुछ स्पष्ट जानने में आने लगता है।** जिसके द्वारा जानने पर प्राणी जानता हुआ भी कुछ नहीं जानता, देखते हुए भी कुछ नहीं देखता अर्थात् फिर उसे अपने अलावा अन्य किसी भी पदार्थ से राग-द्वेष-मोह नहीं रहता। उस आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही आत्मा परमात्मा बन जाता है। संसार के सब दुःख नष्ट कर पूर्ण अनन्त सुखी और सर्वज्ञ बनकर लोकालोक का ज्ञाता बन जाता है।

मस्तक का भूषण गुरु आज्ञा, चूड़ामणि तो रागी माने।
सत्-शास्त्र श्रवण है कर्णों का, कुण्डल तो अज्ञानी जाने ।।1।।
हीरों का हार तो व्यर्थ कंठ में, सुगुणों की माला भूषण।
कर पात्र-दान से शोभित हो, कंगन हथफूल तो हैं दूषण ।।2।।

– मंगल श्रृङ्गार से साभार –

जिनके सिर पर भार (24) वे डूबे मँझधार में !

जीव को कभी-कभी ज्ञान की ऐसी चोट लगती है कि जिससे उसका जीवन ही बदल जाता है। भव भोगों में रत रहने वाले राजा अजितवीर्य ने वीतरागी मुनिराज वज्रनंदी की अमृतवाणी से धर्मोपदेश सुनकर अनुरक्त जीवन को विरक्ति में बदल दिया। क्षणभंगुर दुखमय संसार का एवं स्वाधीन शाश्वत सुखमय मोक्ष का चित्र उनकी दृष्टि के सामने झूलने लगा।

राजा ने गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना की कि हे भगवन् ! अभी तक मैं दुःख को सुख समझकर अज्ञान के अंधकार में भटक रहा था। मेरा ज्ञान नेत्र बन्द था। आपने करुणा करके उस नेत्र को खोल दिया है। अतः आप ही मेरा मार्ग प्रशस्त कीजिए। प्रभु ! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा देकर मेरा जीवन सफल बनाइये।

मुनिराज ने राजा को दीक्षा देकर एकान्त वनप्रान्त में ध्यान अध्ययन करने भेज दिया। राजा ने ईटों के खाली भट्टे पर प्रासुक जगह देखकर चिंतन-मनन प्रारम्भ कर दिया। राजा के दीक्षित होने का समाचार जब राजभवन में पहुँचा तो परिजन पुरजन अपने प्रिय राजा के विरह में शोक सन्तप्त हो उठे। महलों में रहने वाली रानी अनिन्द्यसुन्दरी घबड़ा कर कुछ परिजनों के साथ महाराज को ढूंढती हुई वन में जा पहुँची और राजा को मुनि अवस्था में देखकर चरणों में गिर पड़ी। फिर सावधान होकर अपने पतिदेव से बोली–

तुम्हरे सिर पर भार कैसे बैठे भाड़ पर ?
राज्य नार परिवार छोड़ा किस आधार पर ?

यह सुनकर विरागी मुनिराज ने उत्तर दिया –

जिनके सिर पर भार, सो डूबे मँझधार में।
हमतो उतरे पार, झोंक भार को भाड़ में ॥

सच है परिग्रह के भार से भारभूत प्राणी ही नरक निगोद के संसार सागर में अगणित काल के लिये डूब जाता है।

सम्राट सिकन्दर की (25) कल्याणमुनि से भेंट !

भारतवर्ष पर आक्रमण करते समय सिकन्दर ने दिगम्बर जैन साधुओं के उत्कृष्ट चारित्र और कठोर तपस्या के विषय में बहुत प्रशंसा सुनी थी। इससे उसके हृदय में नग्न जैन साधुओं के दर्शन करने की उत्कण्ठा बहुत प्रबल हो गई।

ईसवी सन् पूर्व 326 के नवम्बर मास में सिकन्दर ने कटक के निकट सिन्धु नदी को पार किया, तब वह तक्षशिला में आकर ठहरा। उस समय उसे ज्ञात हुआ कि यहाँ पर अनेक नग्न साधु एकान्त स्थान में रहकर तपस्या करते हैं।

सिकन्दर ने अपना अन्शक्रतस नाम का एक अत्यन्त चतुर दूत उन नग्न दिगम्बर जैन साधुओं के पास इस कार्य के साथ भेजा कि ''एक साधु को आदर के साथ मेरे पास ले आओ।''

वह दूत जैन साधुओं/जैन मुनियों के निकट पहुँचा। उसने साधु-संघ के आचार्य से कहा कि आचार्य महाराज ! आपको बधाई है। शक्तिमान देवता यानी परमेश्वर का पुत्र सिकन्दर जो कि समस्त मनुष्यों का राजा है, आपको अपने पास बुलाता है, यदि आप उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके पास चलेंगे तो वह आपको बहुत पारितोषिक प्रदान करेगा। यदि आप निमन्त्रण अस्वीकार करेंगे, तो वह आपका सिर काट लेगा।

श्रमण साधुसंघ के आचार्य दौलासम सूखी घास पर लेटे हुए थे। उन्होंने लेटे ही सिकन्दर की बात सुनी और मन्द-मुस्कान के साथ करके अन्शक्रतस को तिरस्कार पूर्वक उत्तर दिया।

''सबसे श्रेष्ठ राजा – ईश्वर कभी बलात् (ज़बरदस्ती) किसी की हानि नहीं करता और न वह प्रकाश, जीवन, जल, मानवीय शरीर तथा आत्मा का बनाने वाला है , न वह इनका संहारक (विनाशक) है। सिकन्दर देवता नहीं है, क्योंकि उसकी एक दिन मृत्यु अवश्य होगी। वह जो कुछ पारितोषिक देना चाहता है वे सभी पदार्थ मेरे लिए निरर्थक हैं, मैं तो घास पर सोता हूँ, ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता करनी पड़े। यदि मेरे पास सुवर्ण या अन्य कोई सम्पत्ति होती तो मैं निश्चिन्त नींद न ले सकता।

पृथ्वी मुझे सभी आवश्यक पदार्थ प्रदान करती है। जैसे बच्चे को उसकी माता पूरी तरह सुख देती है। मैं जहाँ कही जाता हूँ, वहाँ मुझे अपनी उदरपूर्ति के लिए कमी नहीं, आवश्यकतानुसार सब कुछ (भोजन) मिल जाता है। कभी नहीं मिलता तो मैं उसकी चिन्ता नहीं करता। यदि सिकन्दर मेरा सिर काट लेगा तो वह मेरी आत्मा को तो नष्ट नहीं कर सकता। सिकन्दर अपनी धमकी से उन लोगों को भयभीत करे, जिन्हें सुवर्ण धन आदि की इच्छा है या जो मृत्यु से डरते हैं। सिकन्दर के ये दोनों अस्त्र (आर्थिक प्रलोभन तथा मृत्युभय) हमारे लिए शक्तिहीन हैं, व्यर्थ हैं; क्योंकि न हम सुवर्ण चाहते हैं और न मृत्यु से डरते हैं कहा भी है कि **''मृत्युर्विभेषि किं मूढ, भीतं मृत्युर्न मुंचति।''**

इसलिये जाओ, सिकन्दर से कह दो कि दौलामस को तुम्हारी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं, अत: वह (दौलामस) तुम्हारे पास नहीं आयेगा। यदि सिकन्दर मुझसे कोई वस्तु चाहता है तो वह हमारे समान बन जावे।

सिकन्दर के दूत अन्शक्रतस ने आचार्य दौलामस की सब बातें बहुत ध्यान और शान्ति से सुनी। फिर वह वहाँ से चलकर सम्राट सिकन्दर के पास आया। उसने दुभाषिया द्वारा सिकन्दर को आचार्य दौलामस की कही हुई सब बातें सुना दी। सिकन्दर को आचार्य दौलामस का निर्भीक उत्तर सुनकर उनके दर्शन करने की उत्कण्ठा और भी प्रबल हो गई। उसने सोचा कि जिसने अनेक देशों पर विजय पाई है, वह सिकन्दर आज एक वृद्ध नग्न साधु द्वारा परास्त हो गया। सिकन्दर ने आचार्य दौलामस मुनि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और मुनि को अपनी इच्छानुसार कार्य करने दिया।

कहा जाता है कि उसके पश्चात् आचार्यवर श्री दौलामस और सम्राट सिकन्दर की कभी भेंट नहीं हुई; परन्तु सिकन्दर नग्न साधुओं के उत्कृष्ट आचार और कठोर तपस्या से प्रभावित हुआ, उसने उन साधुओं द्वारा अपने देश यूनान में धर्मप्रचार करना हितकारी समझा। तदनुसार कल्याण (कालनस) नामक मुनि से विनय-पूर्वक मिला। कल्याण (कालनस) मुनि आचार्य दौलामस संघ के ही एक शिष्य-साधु थे। सिकन्दर की प्रार्थना सुनकर कल्याण मुनि ने धर्मप्रचार के लिए यूनान जाना स्वीकार कर लिया, परन्तु कल्याण (कालनस) मुनि का यूनान जाना आचार्य दौलामस को पसन्द न था।

जब तक्षशिला से सिकन्दर अपनी सेना के साथ यूनान लौटा, तब कल्याण मुनि ने भी उसके साथ विहार किया। कल्याण मुनि के साथ कौन-कौन भारतीय जैन श्रावक यूनान की ओर गये, इस बात का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। यूनान को जाते हुए मार्ग में बाबलिन स्थान पर दिन के तीसरे पहर 32 वर्ष 8 मास की आयु में महान विजेता सिकन्दर मृत्यु की गोद में सो गया। उसकी मृत्यु की भविष्यवाणी पहले ही कल्याण मुनि ने कर दी थी।

अन्तिम समय सिकन्दर ने कल्याण मुनि के दर्शन करने की इच्छा प्रगट की और कल्याण मुनि ने उसे दर्शन दिये और धर्म उपदेश दिया।

सिकन्दर ने अपनी इच्छा प्रगट की कि – "मेरे मरने के पश्चात् संसार को शिक्षा देने के लिये मेरे खाली हाथ अर्थी से बाहर रखे जावें और मेरे जनाजे (शवयात्रा) के साथ अनेक देशों से लूटी हुई विशाल सम्पत्ति श्मशान भूमि (कब्रिस्तान) तक ले जाई जावे, जिससे जनता यह अनुभव कर सके कि आत्मा के साथ कोई सांसारिक पदार्थ नहीं जाता।" इसीप्रकार सिकन्दर की अर्थी को पहले चार राजवैद्यों ने अपने कंधे पर रखी। यह इस बात का प्रतीक था कि महान वैद्य भी मृत्यु की चिकित्सा (इलाज) नहीं कर सकते।

सिकन्दर की शवयात्रा पर एक कवि ने निम्नलिखित छन्द लिखा, जो अब तक प्रसिद्ध है –

सिकन्दर शहनशाह जाता, सभी हाली वहाली थे।
सभी थी संग में दौलत, मगर दो हाथ खाली थे।।

बहुत सी सम्पत्ति एकत्र की, परन्तु मरते समय वह अपने साथ कुछ न ले जा सका। परलोक जाते समय उसके दोनों हाथ खाली ही रहे। अपने जीवन में भलाई से उपार्जित किया गया पुण्य-पाप ही सबके साथ जाता है।

कल्याण मुनि ने भी अपनी आयु के अन्त समय में समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया। उनके शव को बड़े सम्मान के साथ चिता पर रखकर जलाया गया। कल्याण मुनि के चरण-चिह्न आज भी एथेन्स नगर में एक प्रसिद्ध स्थान पर अंकित हैं।

हमारे प्रकाशन

१. चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी)	५०/-
[५२८ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
२. चौबीस तीर्थंकर महापुराण (गुजराती)	४०/-
[४८३ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
३. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १)	१०/-
४. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २)	१०/-
५. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)	१०/-
(उक्त तीनों भागों में छोटी-छोटी कहानियों का अनुपम संग्रह है।)	
६. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४) महासती अंजना	१०/-
७. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५) हनुमान चरित्र	१०/-
८. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)	१०/-
(अकलंक-निकलंक चरित्र)	
९. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)	१५/-
(अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी)	
१०. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ८)	७/-
(श्रावक की धर्मसाधना)	
११. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ९)	१५/-
(तीर्थंकर भगवान महावीर)	
१२. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १०) कहानी संग्रह	७/-
१३. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ११) कहानी संग्रह	१०/-
१४. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १२) कहानी संग्रह	१०/-
१५. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १३) कहानी संग्रह	१०/-
१६. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १४) कहानी संग्रह	१०/-
१७. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १५) कहानी संग्रह	१०/-
१८. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १६) नाटक संग्रह	१०/-
१९. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १७) नाटक संग्रह	१०/-
२०. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १८) कहानी संग्रह	७/-
२१. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १९) कहानी संग्रह	१०/-
२२. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २०) कहानी संग्रह	१०/-
२३. अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह)६/-	
२४. पाहुड़-दोहा, भव्यामृत-शतक व आत्मसाधना सूत्र	५/-
२५. विराग सरिता (श्रीमद्जी की सूक्तियों का संकलन)	५/-
२६. लघुतत्त्वस्फोट (गुजराती)	
२७. भक्तामर प्रवचन (गुजराती)	
२८. अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स)	१०/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

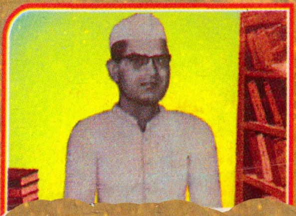

जन्म
वीर संवत् 2451
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
8 दिसम्बर, 1987
पौष वदी 3, सोनगढ़

सत्समागम
वीर संवत् 2471
(पूज्य गुरुदेव श्री से)
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
वीर संवत् 2473
फागण सुदी 1
(उम्र 23 वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा... ।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**- इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान छहढ़ाला प्रवचन,(भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), जैनधर्म की कहानियाँ (भाग 1 से 6) अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।